हिन्दी-कविता

१



पयास्विनी

शंभु प्रसाद बहुगुणा

प्रकाशक
शम्भु प्रसाद बहुगुणा
आइ टी कालेज, लखनऊ

मुद्रक
रमाकान्त मिश्र
लखनऊ-प्रिंटिंग-हाउस
अमीनाबाद, लखनऊ

पयास्विनी

हिन्दी-साहित्य, हिन्दू-समाज और संयुक्त- प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) आज जिस रूप मे है, उसे देखते हुए मन मे यही भाव उठता है–इन से अधिक असुंदर वस्तुएँ, परमात्मा की सृष्टि मे कोई भी और नही, किन्तु इन्ही तीन नये नरकों के बीच विश्व के विराट् ईश्वरों का जीवन अमृत, सरल अकृत्रिम मानवों के हृदयो का सौन्दय-कमल-वन और प्रकृति के रम्य देश हिमवत का वरदान भी है।

हृदय के सुमनों का वास्तवकि स्थान विलास के वक्ष पर नही, सौन्दर्य-देवता के चरणों मे है। सौन्दर्य, उपासना की वस्तु है, उपभोग की नही। जो उपभोग चाहता है वह नष्ट हो जाता है, जो उपासी है उसे शान्ति वरण करती है ,वह तर जाता है।

हृदय-सरस्वती, सौन्दर्य-नदिनी स्वयवरा है, स्वर्गीय ज्योति है, जिसे वह वरण करती है उस के स्वर गधर्व-गान करने लगते है, उस के लिए सौन्दर्य के असीम द्वार खुल जाते हैं। जो वासना की मलिनता से अपने मदिर को अपवित्र किए रहता है, उसे सौन्दर्य-प्रभा के दर्शन नही होते वह सत्य को नही अपना पाता। उस का जीवन, नारकीय कृमियों का-सा घृणित हो जाता है।

स्वर्ग की ज्योति एक दिन सब के जीवन मे आती है, जो उस की उपासना एक निष्ठ भाव से एकान्त रूप से करता है, उस का जीवन धन्य है, जो उस का उपभोग चाहता है उस के हाथ, अंधकार के विषधरो से डसे जाते है। विष्णु के व्यापारी ऐसे विषधरों से साहित्य भर गया है, हे रुद्र! तुम अपने भयकर नृत्य से इन्हे महिष-कट

किंकिणी-मय कर दो—

"क्षमा-दया हो, सहज-शक्ति हो, सरल पुलक हो, श्रद्धा हो।
निश्छल प्यार हो, दुर्बलता हो, करुणा हो, वत्सलता हो,
जहाँ रौद्र से रिक्त मधुरता, बिना विकृति की सुन्दरता हो
महारुद्र उस दुर्बल उर को, मह्रिय कंठ किंकिणीमय कर दो"
(यशवंत)

और दिशा-दिशा से जीवन में जो कलुषित-प्रवाह उमड़ चले आ रहे हैं, जिन्हें हमारे ज्ञान और प्रकाश के कहे जाने वाले अंधकार औ व्यभिचार के केन्द्र समेटते -बाँटते चले जा रहे हैं, उन का समन हो पृथ्वी के यशस्वी- तपस्वियों की ज्योति इन अंधकार केन्द्रों में जग मगावे। ये समझ पावें साहित्य के दुर्गम शिखरों पर जुगनू नहीं चढ़ पाते वहाँ चिर उज्ज्वल आत्म-प्रकाश को विषमताओं के बीच भी बचाये रख सकने वाले मनीषियों का तपोवन है

दुर्गम-शिखर

यह यशस्वियों की पृथ्वी है, यह वीरों की
कर्म-भूमि है, इन दुर्गम-शिखरों के ऊपर
कौन वास कर सकता है, जिस ने अपने को
हो न देवता बना लिया ? वज्रों से हिलते
इन मेघों को चीर, सूर्य्य की दीप्त कान्ति को
कौन देख सकता है, जिस के दृढ़ पंखों में
हो न बाज की शक्ति ? अरे इस अंधकार से
और मरण से ढकी हुई पृथ्वी में अपने
पथ को कौन देख सकता, जिस के नयनों में

हो न खेलता, आत्मा का प्रकाश चिर उज्ज्वल ?
जीवन के छिद्रों-छिद्रों मे फूट आ रहे
सघन निराशा के कलुषित-प्रवाह, प्राणों के
दीपक को विलीन कर देने अन्धकार मे
इन उत्पातों की बाढ़ो से अपने उर की
ज्योति बचाए रख सकता जो उसी रत्न को
धारण करती है पृथ्वी मस्तक पर अपने !

(चन्द्रकुँवर बर्तवाल)

नाथ ! कल्प-वृक्ष को कुछ शान्ति हो ! उस के चारो ओर लगी आग की लपटें शान्त हो, करुणा की ऐसी वर्षा कीजिए जिस से प्राणो की मुरझाती खेती लह लहा उठे और अनाथ बालकों की तरह द्वार-द्वार फिरते, आँखो मे आँसू भर आश्रय माँगने वाले गीत जन जीवन की गंगा माई मे मिल कर उस की गोद मे आश्रय पा, पृथ्वी की नगर नगरियों मे, ग्राम कुटियो मे वचर सके -

कौन,-अनाथ बालको से फिरते, द्वारो पर,
आश्रय माँग रहे, आँखो मे आँसू भर ?
हाय ! गीत हैं ये मेरे, जिन के स्वर सुन कर
हँसते है पृथ्वी के लोग घृणा से भर कर !

ओ गंगा माई !

तुम पवित्र हो तुम महान हो, तुम सब को सदैव सुखदाई !
तुम हिम के शिखरो से अपने साथ स्वच्छ लहरो को लाई !
दिग-दिगन्त में जननि ! तुम्हारी कीर्ति-कौमुदी छाई !

महत् कार्य वह जिसे पूर्ण करने को तुम भू-तल पर आई,
योग-दान देते हैं निर्झर, इसी लिए माँ तुम्हें सदाई।

मै सूने शिखरों से आया,
दावानल ने सुलग जिन्हें तरु की छाँहो से रहित बनाया,
कठिन सूर्य ने जिन्हें अग्नि की किरणों से जी भर झुलसाया,
कभी न जिन पर पडी, जल भरित सावन के मेघों की छाया,
प्यासे रहे, कभी न जिन्हों ने वर्षा जल अधरों पर पाया,
उन्हीं तृपित शैलों के आँसू ले मै तुम से मिलने आया,

मेरे आँसू ग्रहण करो माँ।
किसी योग्य मै नही, किन्तु तुम मुझ को उर के बीच धरो माँ।
मुझे गोद में धर, पृथ्वी की नगर-नगरियों में विचरो माँ।
मेरे माथे पर करुणा की वर्षा बन कर सदा झरो माँ।

चन्द्रकुँवर बर्त्वाल

माँ

माँ! मेरा आँचल सुन्दर फूलों से भर दे।
खिलूँ निर्जन बन में एकाकी, ऐसा हे माँ! मुझ को वर दे।
माँ मेरा आँचल फूलों से भर दे! उन- मे इतनी मनहरता हो जो
सौरभ सुरभित, बन को कर दे, माँ, मेरा आँचल फूलों से भर दे!
चू पड़ें कभी वे धरती-तल पर, उमगा मिट्टी—पत्थर को भी दें;
माँ मेरा आँचल फूलों से भर दे! मन्द मलय पवन जब आवे,
वे अंग-अंग को तब मुस्का दें, मां, मेरा आँचल फूलों से भर दे।
मैं मर जाऊँगी रोते गाते ही, पर पराग उन का बिखरा दे,

माँ मेरा आँचल फूलों से भर दे !मुझ में है रस-आनंद नहीं,
पर इन को मधु से भर जाने दे,माँ मेरा आँचल फूलों से भर दे!

मैं

मै प्राची की मधुर पहली रेखा, मुझ को है संध्या की चाह नहीं,
~~जगा कुसुमों को~~ कोमल स्पर्शों से,
पुलकित किसलय को कर जाऊँगी
जल-थल को दे मृदुल चेतना,मै हँसती आई, हँसती ही जाऊँगी
मैं प्राची की मधुर पहली रेखा, मुझ को है संध्या की चाह नहीं,
मै निर्झर की बहती धारा,मुझ को है विस्तृत सागर की चाह नहीं,
सिंचित कर के गिरि-शिखरों को,मै हिम को हँसती ही पाऊँगी
मिल निर्झर में सरिता जल से, उस को प्लावित कर जाऊँगी,
मै निर्झर की बहती धारा,मुझ को है विस्तृत सागर की चाह नहीं,
मै पावन गिरि-शिखरों से उतरी, मुझ को है पापों की चाह नहीं,
इधर उधर बिखरे फूलों को प्राणों से भर जीवन दे जाऊँगी,
युग-युग के प्यासे उन अधरों की,मै अपने जल से प्यास बुझाऊँगी।
मै पावन गिरि-शिखरों से उतरी, मुझ को है पापों की चाह नहीं
मै पावन, निरभ्र नभ-सी पावन, देखी मै ने शूलों की राह नही,
स्नेह-जल-कण से कर शृंगार, पाषाणों को चीर चली जाऊँगी
नित नन्हे-नन्हें गीतों से मै, चंचल नदियों को बहलाऊँगी,
मै पावन निरभ्र नभ सी पावन, देखी मै ने शूलों की राह नहीं!

डा०. विनी एम एच ए.

हृदय के आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन जिसे हो जाते है वह उस

सौन्दर्य के चरणों में लोटने की कामना करता है। जिस मानव-शरीरिणी करुणा के स्नेह-सिंचन के कारण जीवन की सरसता बनी रहती है उस के चरणों में मानव प्राणों को शान्ति प्राप्त हो। वह चाहे वीणा वादिनि हो, चाहे माँ हो, चाहे बहिन हो, अथवा कमल-दल-लोचना हो, उस की शीतल-छाँह में, उस के चरणों में जीवन की ज्वालाओं में झुलसकते हुए ये प्राण मूर्छित हो जावें।

हृदय की स्नेह की दृष्टि से सरलता के देवताओं के दर्शन जिस ने किए हों उस ज्योति-स्वरूपा रस-पयस्विनी के चरणों की वंदना करता हूँ, माँ, जगमें कितने दीन-दुखी हैं, यह तुम स्वयं जानती हो!

साहित्य-मरु-भूमि बन गया है। जन-जीवन के प्राण कुम्हला रहे हैं। विष के प्रभाव से धरती मूर्छित हो चुकी है। इस समय अपना वरदान बाँटो। हृदय की पयस्विनी को अबाध बहने दो। चेतना-शून्य भूमि लहलहा उठेगी।



ओ गंगा माई

हृदय-प्रतिमा

"जीवन की सुन्दरतम, लघुतम, मार्मिकतम कविता केवल तीन वर्णो में अपनी कहानी कहती है--'हृदय !'* 'प्रतिमा' कलाकार के हृदय की कहानी सुनाती है। कवि इन दोनों को अपने गीतो मे प्रतिभा से अभेद स्पदन दे पाता है और जन्म ले लेती है 'हृदय-प्रतिमा।'

'हृदय-प्रतिमा' के कवि चद्र कुँवर ने भी एक दिन इस पृथ्वी पर जन्म लिया था। जग मे उन का वश बर्त्वाल वंश के नामसे ख्यात है, धार के पॅवारों की एक शाखा किसी समय हिमप्रान्त मे आ बसी। गढवाल जिले की तल्ला नागपुर पट्टी मे केदारनाथ की घाटी में उठे पर्वतो पर चीड के बनो के बीच माल कोटी गॉव को इन लोगों ने बसाया। इसी गॉव मे स्वार्गीय ठाकुर भूपाल सिंह जी के पुत्र चद्रकुॅवर बर्त्वाल का जन्म श्री जानकी देवी के गर्भ से पॉच भाद्रपद उन्नीस सौ छहतर विक्रमीय को आर्द्रा प्रथम चरण मिथुन राशि मे वृहस्पतिवार को हुआ था। अठ्ठाईस वर्ष चौबीस दिन की जीवन-अवधि लेकर चन्द्र कुॅवर इस पृथ्वी पर 'सूरज मुखी' बन आये थे। हिमालय पर गिरी वह पहिली किरण पृथ्वी पर रवि की तृषित चकोरी बन कर रही और अंत मे बसत की 'ओस' की भॉति नभ मे लीन हो गई। रविवार, उनतीस भादौ दोहजार चार

१—डॉक्टर विनी, एम०-एच०-एच०

विक्रमीय को मदाकिनी और काचन गंगा के तीर स्थित गॅवालिया गॉं
में उस स्वर्ण-हस को नभ की मुग्ध हवाएँ हर ले गईं ।--

'कमलों के वन में फिरते उस स्वर्ण-हस को
हर ले गईं अचानक नभ की मुग्ध हवाएँ,
फिर न सुनाई दिया कहीं भी वह कल कूजन,
लुप्त हुआ वह रूप धरा से, और हाय जो
उसे प्यार करते थे जीवित न रहे वे भी।'

जीवन का अत है, किन्तु प्रेम का नही। शरीर नष्ट हो जा सकता है, किन्तु जीवन का आनद नही। घन तम मे सुनहले दिन के सोत खो जाते है किन्तु प्राची से झरने वाली आशा, अन्त हीन है। इसी अतहीन आशा से चन्द्र कुँवर ने बाल्यकाल मे वर्षा के धुले आकाश मे उतरते प्रभात की शोभा का अभिनदन किया था और 'समझदार' 'बड़े' कहे जाने वाले हृदय-हीनों से 'बदमाश' वचन--वाण की प्रखर वेदना पाई थी। कारण ? प्रभात अभिनदन की दूसरी पंक्ति मे 'पुलक-कप' शब्द आ गये थे वही यह 'पुलक-प्रभात' है —

ओ प्रभात, मेरे प्रभात, सुन्दर आओ धीरे-धीरे!
पुलक-कंप की इन प्राणो की चल सरिता के तीरे!
निर्मल जल पर पड़ती लख कर तरुण किरण की छाया,
इस निरभ्र नभ-सा मुझ को भी है हँसना ही भाया!
कण-कण हर्षोन्मत्त- हो रहा, हँसती है पृथ्वी बाला,
लगी धुक-धुकी टूटे उर मे मिलन काल की सी ज्वाला।
पिच्छल नभ पथ देख रहा हूँ, मग्न तुम्हारे मृदुल चरण,

आओ धीरे पिच्छल पथ है, कहता इस जग का कण-कण।

किन्तु किसी भी यशस्वी की महिमा मृगी इस पृथ्वी पर खलों के विष-बुझे वचन-बाणों से विद्ध होने से कभी भी नही बच पाई। चन्द्र-कुँवर सोलह वर्ष की अवस्था मे प्रभात-अभिनदन के कारण उस से विद्ध हुए किन्तु उन्हो ने सौन्दर्य-लतिका-तल पर वसन्त की भाँति बैठ सुन्दरता की 'हृदय-प्रतिमा' की 'रूप-रेखा' अंकित करना त्याग नही दिया वरन और भी अधिक एक निष्ठि भाव से उस रूप-रेखा के गीतों का सृजन करने लगे जिसका प्राण यह 'हृदय-प्रतिमा' है। रूप-रेखा की मगल कामना उन्होने की—

पुष्प में भरती जो नव रंग, और फैलाती जो मधु मास,
उस ही रेखा के गीतों का, सभी की वाणी में हो वास!

और 'हृदय-प्रतिमा' की वदना मे वे 'प्रथम-रश्मि' मे लीन हो गये।

देव! शैशव का हो फिर वास।

प्रथम सभ्यता-रश्मि जगत में छिटकावे माँ नवल प्रकाश,
मेरे भोले स्वर्णिम युग में, आवे नभ में सूर्य्य प्रकाश!
कोमलता, संगीत, मधुरता का हो फिर, वाणी मे वास!
विरह विधुर पीड़ा से रोते अवयव मेरे कर दें लास,
दे दो मुझको मेरा शैशव, जिस में हो स्वतंत्रता-भास,
बना दो फिर विभूति आगार, हमारा यह स्वर्णिम संसार,
दीन मलीन, कुटीर मध्य से, आशान्वित लखती हूँ द्वार,
स्वयं न पीड़ा दूर कर सको भगवन् दे दो शैशव साकार!

क्षण भर के लिए क्षात्र-तेज और ब्राह्म धर्म परस्पर संघर्ष करते हुए दिखलाई दिए, एक ओर शौर्य्य की प्रतीक भवानी तलवार रणचडी के लिए आव्हान कर रही थी दूसरी ओर वीणापाणि माई शारदा अपनी लेखनी उसे थमाना चाहती थी, जीवन के लाखों प्रलोभन भी चतुर प्रवचक की भाँति सच्चे झूठे को एक कर सामने खडे हो गये, अपना अपना माल दिखा उसे खरीदने का आग्रह उस से करने लगे। वह सोच में पड गया, मनोहर याचक सामने है, कैसे उसे फिरा दू, यह 'भोला मन, है कैसे बच पायेगा, सच्चे झूठे एक बने खडे है, कैसे उन्हें पहिचानेगा—

लाख प्रलोभन यह भोला मन बच कैसे जाए ?
सच्चे झूठे एक बन खड़े जान किसे पाए !
हाट लगी है इसे लूटने, सब इस को तकते !
अपना-अपना माल दिखा कर लेने को कहते !
चतुर प्रवंचक, मन यह बालक, बच कैसे जाए ?
लाख प्रलोभन, यह भोला मन बच कैसे जाए ?
देख एक मृदु कुसुम धरा पर, कितनी पवनें आईं !
एक शिशिर कण पीने, कितनी नव किरणें ललचाईं ?
देख मनोहर याचक आगे, कैसे उसे फिराए
लाख प्रलोभन यह भोला मन बच कैसे जाए ?

हृदय उसे लेखनी की ओर बढ़ाता है तो गरजता इतिहास धमकी देता तुम ने यह भूल की जो तलवार छोड़ कर लेखनी पकड़ी अब तुम कही के नहीं रहे ! वह अपने आत्म-गौरव में ही गरजते

समुद्रा को समेट लेता है, सरस्वती उस के माथे पर अपना हाथ रखती है और वह भवानी के शौर्य्य को लेखनी की निर्झरी मे धो, अपनी बाँह को लक्ष्य कर कहता है, हे'मेरी बाँह!'

शौर्य का तो भूल पकड़ा लेखनी,
किन्तु तुझ से तो सफलता दूर है।
छोड़ करके विषम पथ फिर आ वहीं,
व्यर्थ मेरी बाहु बनती शूर है।
आत्म गौरव जाति का उत्थान है,
आत्मबल ही देश अक्षय प्राण है।
किन्तु गौरव? छोड़ जब मुझको चला,
आत्मबल का तो कहो क्यों त्राण है?
थी कसक मेरे हृदय के बीच मैं,
थी निरी वह कल्पना-सी जगत मे।
देश-पीडा छोड़ कर के विरह की,
थी बनी रानी विकल हृद जगत मे।
पूर्वजों के बाहुबल का भी कहाँ,
हो सकेगा कब मुझे अभिमान नव!
बस विरह की एक पीड़ा से भरा,
शौर्य्य शून्य. सुप्त है यह हृदय भव।
पास मेरे कुंठिता करवाल है,
औ' नहीं उपयोग करना जानता।
हाय! तन्द्रा ले गई सब शूरता,

है अहा कितनी विषम अज्ञानता !
आज खो कर प्रेम औ वीरत्व सब,
सभ्यता के फेर में हूँ पड़ गया।
हाय ! अब मै क्या करूँगा विवश हूँ !
सुप्त आया था वही फिर रह गया,
बाहु अब तुम यह फड़कना छोड़ दो,
लुप्त सब है हो गई शुभ शूरता।
इस तिमिर पश्चात प्रातः काल में,
प्रस्फुटित होगी कमल माधुर्यता !
पूर्व पुरुषों पर हृदय अभिमान कर,
आत्म गौरव-मुकुल को कर सिंचिता !
आह दैशिक पुष्प उस मे दो लगा,
देख लो खिल जायगी उन्नति-लता !

और अपने नन्हे कोमल हाथों से 'जीवनोत्सर्ग' लिख, माता सरस्वती के चरणों पर सिर रख देता है—

जन-मन-तन-भू चिर संचित सुख,
वार-वार इन मृदु चरणों पर
पल्लव-वस्त्र, नग्न मुख-चितवन,
भाव केश, जग-उर-स्वर गुंजन,
सीमित जग-सुख-दुख की कड़ियाँ तोड़,
वार जीवन चरणों पर।
युग-युग मोहक शीतल सुख-छवि,

अचल जड़ित तारक-शशि-रवि,
गिरि-आसीना, कला प्रवीना के
मोहक नूपुर मग पद पर।
जन-मन-तन-भू चिर संचित सुख,
वार-वार इन मृदु चरणो पर।
सुखद कल्पना सिक्त नयन-दल,
मोहित होता जल-थल प्रति पल,
स्नेह-दृष्टि पाने चितवन की
दौड़ अरे गिर उन चरणों पर,
उल्लंघित कर कूप व्याधि मय,
उस बीणा में शाश्वत स्वर-लय,
करने दौड़ छोड़ कटक भय,
वार-वार जीवन चरणों पर,
शत-शत सुख, शत-सहस प्रलोभन,
देख नही तत्समाकार बन,
वार वार जीवन चरणों पर,
जन-तन-मन-भू-चिर सचित सुख !

सौन्दर्यन-प्रभा, रवि की दीप्त प्रभा, देव - कन्या कविता के मधुमय देश मे प्रवेश पाते ही विपत्ति "विधुरा मुसकान" आँसू बहाने लगी—

अय विपत्ति-विधुरा मुसकान ! मधुर नंदन-तरु स्थित ओस !
निरखती हुई यौवन,यौवन कान्ति, समुत्पन्नित जीवन की भूल।

सुखद दृग-घन के सीकर तप्त। तप्त हृदय के उच्छ्वास वियोग।
पीत रवि की किरणों में मंजु। अश्रु कर दो सुख-दुख सयोग!

और एक दिन कहना ही पडा-'हाय कौन मै? हृदय भरा क्यो यह इतनी आशा से? इस कुहरे को प्रेम हुआ क्यों रवि की दीप्त-प्रभा से?' रवि की दीप्त प्रभा से उस कुहरे को प्रेम हुआ था, इसीलिए उस सूरज मुखी ने अपनी आत्मा के दवारों पर जीवन नाथ का अवाहन किया----हे प्रिय! 'समीरण रथ' पर आरूढ हो इस जीवन मे आओ---

समीरण रथ पर हो आरूढ़, विटप किसलय चुम्बन कर नाथ,
चपल नेत्रों से लख संसार, करू आवाहन उतरो नाथ।
कभी स्मृति में होता स्वप्न, जन्म नव जीवन हास-विलास,
होता सुख है हर्ष अपार हृदय मे भरता हास हुलास।
देख लो प्राची में छवि व्योम स्वर्ण वस्त्रों की झलक विमुग्ध
देव आओगे मेरे पास आज देखूगा छविको स्निग्ध?

अलिन्द सम उस की 'गूंज' दिगन्त मे फैलने लगी

गूज उठी अम्बर मे वह ध्वनि?

क्षितिज पार कुछ श्लक्षण स्वर से, मंद मंद मारुत स्वर भर के
दीप्त वधू मुख सुख लेकर के गूंज उठी अम्बर में वह ध्वनि,
लोल ललक लघु लोल चरण धर, कान्त हृदय मे नूतन पद धर,
पंचम श्यामा स्वर लज्जित कर, गूंज उठी अम्बर में वह ध्वनि?
सखि ध्वनि सुन्दर थी, स्वर नूतन, अहा ललक पड़ता था प्रिय मन
खिलता था मेरा हृदय-विपिन तभी भरी अम्बर में वह ध्वनि!

पिघल-पिघल कर घुलने वाली वह ओस पवन स्पर्श से कपित, पुष्पों

के गात छूके, झरते झरते मिटने वाली 'व्याकुल बरसात' बन गई--

विकल विकल बन फिरती हूँ, पिघल-पिघल मै घुलती हूँ !
पवन स्पर्श से कपित हो, मै आहें भर जलती हूँ।
ोती पुष्पों का गान, मै व्याकुलता की बरसात।
झरते झरते मिटती हूँ, विकल विकल बन फिरती हूँ।

उसे लगने लगा जैसे अनत मेघ, मधुर बसत, असीम वारिध, तरल समीर, ज्योति आदि कोई भी उसकी व्याकुल आह की थाह नहीं पा सकते! यह "व्याकुल आह" है---

अरे यह व्याकुल उर की आह, कौन पा सकता इसकी थाह।
पिघल जाते ये मेघ अनत, गीत गाता है मधुर बसन्त।
उछल पड़ती वारिधि की श्वास, समीरण है लेता निश्वास।
किन्तु मिटती है कब यह दाह? कौन पा सकता इस की थाह।
ज्योत्स्ना भी हो जाती मूक, प्रकृति छबि के हो जाते टूक,
विश्व भी बन जाता विकराल, बुझाने को इस हृद की ज्वाल,
भूल जाते वे भी हैं राह, कौन पा सकता इसकी थाह?

लोग कहते वह नित्य प्रति गीत गाता है किन्तु उस की पीडा की समाधि से एक कसक भर आती। उस की आशाकली किसी निर्मोही ने मत्त हो कुचल डाली। अब तो पीडा मे भी 'उत्पीडन' है—

उत्पीड़न पीड़ा में भी, क्यों आज हृदय है रोता?
वह सुख भी स्वप्न सदृश था, हा नयन कोर से अद्भुत!
यह कली हमारी किस ने कुचली? यह पीडा भी क्यों?
थे कभी बिखेरे मोती, अब गृह-गृह के है क्षीण दिये!

आती है एक कसक-सी पीड़ा समाधि से मेरी !
मै आज घुला जाता हूँ पर बना हुआ मद माता
स्मृति है पलकों पर बसती, आँसू की सरिता बहती !
क्रोधान्ध मत्त हो कुचली, निर्मोही ने यो मसली,
हँस-हँस कर नयन नचा कर, वे लेते है आहे भर,
गु जित निकलेगी आहे. जग में यह सुख को लावे !

प्रेयसि के आने तक जीवन गीतो का लेखा अमिट नही रह सकता अस्तु स्वय ही उस 'माननि रेखा' तक पहुँचना होगा—

प्रिय स्पर्श तन का करते ही, हँसता था हृदय सौ-सौ बार,
इस उत्कठामय जीवन की, स्वर्णालकृत सतत सुख-सार,
प्रियतम से कुछ द्युति पा कर के, रक्त श्वेतता भव्य विलास।
चमकी थी मै बादल रेखा, भर भर पलको में मृदु लास,
किस सुहागिनी के सुहाग हो? जाती कहाँ कल्पना मूर्ति ?
रजनी के इस अंधकार मे, कौन अरे उज्ज्वलता पूर्ति ?
भामिनि अब तक आलोकित था, जीर्ण सदन लख दीप्त प्रकाश,
घोर तिमिर मय यह मसान है, अंधकार का भामिनि वास,
प्रेयसि तेरे आने तक क्या, अमिट रहेगा भी यह लेखा ?
ठहरो मुझ को ही आने दो, प्रिय विलासिनी माननि रेखा !

दारुण अवसाद पा-पाकर जीवन तो मिट ही जावेगा पर पत्थरों पर गिरी हुई अविरल नयन धारा आहों मे सचित सुन्दरतम गीतों की अक्षय याद रक्खेगी, ये 'मेरे गीत' है

हर्षोल्लास कौन कहता है? सर्व नाश का आमंत्रण?

तन तो स्वस्थ किन्तु इस हृद् में हा ! कितने हैं दारुण व्रण !
कहते हैं सब लोग गीत गाता हूँ नित्य प्रति,
दारुण दुख से निकली आहें, केवल आह ! नहीं छंद-गति,
गाऊँगा क्या? लिखूंगा क्या, करता जब मै देव ! प्रयास,
आती शृंखलाएँ, लेखनी जाती छूट, जाता लास,
आहों में रहे सचित हो मेरे सब सुदरतम गीत,
कैसे तुम तक पहुँच सकेंगे, आगे खडी अविचल यह भीत !
मिट जाऊगा मै यो ही पा-पा कर वही दारुण अवसाद
पत्थर तो रखेंगे जग मे, मेरे तन की अक्षय याद !"

कवि के सुदरतम गीत उस की आहों मे सचित है किन्तु सुन्दरता ने उस की कल्पना मे हिम से अपना महल बनाया है। स्वर्ग सुदर हिमालय की गोद मे नर्तन करती रितुओं के बीच उज्जवल हस हँस कर झरते झरनों, उन्मादिनी नदियां, रग-विरंगे पछियो और अकृतिम प्रेम वाले सरल हृदय मानवों के बीच उस के सौन्दर्य के स्वर कुररी के आत्म क्रदन करने वाले करुण जीवन सहचर बन गये है, इसी से गुंजित यौवन के सदेशों को मौन भाषा अपने यौवन की पहली रात मे 'चातकिनी रानी के भावों में सुन वहकहने लगता है—मेरा 'तरसता मन' है

तरसता हुआ हा सुखोके लिए,मन अशन के बिना हाय कैसे जिए?
करेगा क्या वह भी नव गान? हृदय जिस का है रे श्मशान।
सारे विभव बस सब सुखों का हो चुका अवसान !
हँसेगे नही अधर दल म्लान,

तरसता हुआ हा सुखोंके लिए,मन अशनके विना हाय कैसे जिए?

प्रात की शिशु मेदिनो की भाँति 'झल मल' करती हुई उस की रानी उस की भाव प्रवण कल्पना मे सजीव होने लगती है—

अपने ही भावों मे बहती छल छल
सरिता की तरल लहर-सी,
डब डबाई प्रेयसि की आँख-सी,
प्रात की शिशु मेदिनी-सी, कर रही झलमल !

वह जैसे अपनी सखी से हृदय की वेदना व्यक्त कर रही हो वह 'चातकिन'

उन्मन मन सजनी,
तरल हास में छिपी हुई, बिजुली की-सी पीड़ा अपनी,
सजी प्यार ले कर आई, सावन की काली रजनी।
फुहियाँ बरसीं, किन्तु रही मै बस प्यासी ही सजनी,
एक चातकिन मै सजनी, उन्मन मन सजनी !

उस का बनमाली उस के फूलो की डाली को धीरे से चुम्बित कर, उस से सरस राग खेल कर चला गया। उस के मन की सिहरन तड़पन का कोई अंत नहीं। वह, पूछने की नही, अनुभव करने की दशा है, मन की 'सिहरन' है

धीरे से चुम्बित करके मेरे फूलों की डाली,
री चला गया बन माली, री सरस राग खेल कर,
कैसी मै ने यौवन की वह पहिली रात बिताई,
मत पूछो मेरे भाई तड़पन सिहरन यह मन की।

जीवन-तम-किरण-प्राण-धन् को छोड़ कर, वह किसे 'चिन्तन छीजन' सुनावे ।

तुम जीवन तम-किरण प्राण-धन! प्राण-प्राण जीवन के जीवन।
गान प्राण गुण गाते गुन-गुन, अधर दशन कर तेरा कीर्तन,
तुम बिन नाथ भार है जीवन! किसे सुनाऊँ चिन्तन-छीजन ?
रुदन छोड़ कर तुम्हे प्राण-धन, स्मृति के हे आधार परमतम,
धैर्य्या कर हे सहचर उत्तम, कहाँ कहो किस निर्जन में है
मानस-शान्ति-निकेतन ? जहाँ नहीं सुख-दुख का नर्तन
जन्म मरण औ चिन्तन छीजन ! मानस का आलोक जहाँ पर
आलोकित करता अन्तस्तल, जहाँ स्निग्ध प्रभा मे प्रतिपल
तन-मन होता धुल-धुल उज्वल! नाथ विकल हो उठा देख कर
यह व्याकुल जग-जीवन, मेरे—तेरे का यह क्रन्दन
प्रभु नश्वर लघु जीवन यौवन,तुम जीवन-तम-किरण-प्राणधन।

स्नेह-मार्ग की योगिनी अपनी इच्छा को अपने प्रिय 'नील कंठ' के सम्मुख व्यक्त करती है—

बैठे रहो उच्च गिरि पर प्रिय, तुंग शृंग पर भावोज्वल रवि,
पद-तल पर मै सतत देख छबि, वारूँ तन मन तव छवि पर प्रिय
स्नेह दान पा शुभ लोचन पथ चलते ये लोचन ले कर रथ
हो जाओ आसीन यहीं प्रिय! मुझे कष्ट में लख करुणा कर
करुण दृष्टि से मुझ को लख कर,मेरा जन्म सफल कर दो प्रिय
तन स्पर्श से दूर रहो पर लोचन पथ में रहो निकटतर
इच्छा यही सतत मेरी प्रिय, स्नेह मार्ग की मैं हूँ योगिन

तमसावृत है यह निर्जन बन, रूठ न उठना उस गिरि से प्रिय!

हृदय मे विद्यमान, प्राणों मे घुला मिला रूप, लोचन पथ से दूर रहे इस से अधिक रहस्यमयी निष्ठुरता और क्या होगी--जानने पर भी 'प्रिय, अजान बने' है।

रे प्राणों में घुल गया रूप! तृष्णा उठती रह रह अनूप!
मेरे नयनो में विद्यमान, मुझ से रहते फिर भी अजान
निष्ठुरता क्या है इस समान! मेरे नयनों मे विद्यमान
मैं रोती हूँ जब फूट-फूट, कहता होगा वह कौन झूठ!
कितनी हो जाती हूँ मलीन, जग के सम्मुख मैं दीन-हीन।
तुम में रहता मन किन्तु लीन! जग के सम्मुख दीन-हीन।
ठुकराओ मुझ को नित्य क्रूर, कैसे जाऊँ मै नाथ दूर,

इस से अधिक दशन क्या होगा! कैसे यह दंशन सहा जाय? जो रोम-रोम मे रमा है वही जीवन-तम-किरण--प्राण--धन साकार हो नही पा रहा है। घन-जल नयनों मे छा आत्म-सूर्य को ढकले! पर स्मृति तो कण-कण मे छाई है वही आँसू वरसा दृष्टि को उज्ज्वल कर देगी। वह स्मृति ही जीवन-प्रकाश है। पाप-घनों के, जीवन-नभ मे छा जाने से यदि दरस-वंचिता यह आत्मा हो जाती है तो पश्चाताप के आँसू उसे धो डालेगे। विरह की अग्नि मे मन के मैल विकार भस्म हो जायेंगे "ये प्राण" इसी पथ पर हैं—

यह हृदय जलाया जाता है, आँसू बरसाये जाते हैं
दिल में नित धड़कन होती है, ये प्राण निकलते जाते हैं,

पर हे भगवान! क्या तुम भी यही चाहते हो हृदय जलता रहे

आँसू बरसते रहें और ऐसा करते करते ही तन स प्राण निकले ? 'चाहते तुम भी' यही हो ?

चाहते तुम भी भगवान, हृदय-जलन औ अश्रु समान,
दिल में धड़कन रहने पर भी, तन से निकलें मेरे प्राण ?

समाज तो जन-जीवन का उपहास करता है आत्मोन्नति-पथ के लिए विघ्नमात्र है इसीलिए यह 'कटक समाज' कहलाने योग्य है—

कटक समाज तू विघ्न मात्र, सब जग जन तव उपहास पात्र !
तू गर्व-सुरा पी मतवाला, गूंथ दुर्गुणों की नित माला'
कर्तव्य बनाता रंग शाला, सिहरा रोता यह सकल गात्र !
कटक पूर्ण विकल उन्नति-पथ, खड़ा भग्न तू है वाहन-रथ,
लेजावे हम को किधर जीर्ण ? उन्नति-मंदिर के हास्य पात्र !

हे नाथ यदि जीवन मे मृत्यु ही 'ध्रुव सत्य' है यदि 'मरण से रक्षा' नही हो सकती—

पूजे देवी देवता बहुत से, देखे सभी तीर्थ भी !
भागे ये पद, जब कि शत्रु सेना ने मातृ भू भ्रष्ठ की
माँगी भिक्षा, देख नीच जन को की कंपिता पूंछ भी,
क्या क्या हाय नही किया मरण से रक्षा न पर हो सकी'

तो मेरी भी एक प्रार्थना है इसे स्वीकार कर लेना, 'मै शाँत से मर सकूंगा मेरी 'आकाक्षा' है—

जब उद्घाटित करती हों ये साँसे मृत्युद्वार !
चिरविछुड़न का मंद-मंद स्वर सुन पड़ता हो जीवन तट पर,
पत झड़ पल्लव का-सा मर्मर

शिथिल प्राण हों, आतुर हो मन, रुद्ध कंठ हो, व्याकुल लोचन,
स्मृतियों के छोटे छोटे कण
आ बुझ जाते हों प्रतिवार, मुझे क्षमा आ कर देना
चुम्बन, कर प्रिय अन्तिम बार !

आज तो मेरे नयनों से 'घन जल' बरस रहा है—

घन नयनों में बरस रहा जल, मूँद नयन तब मानस पल-पल,
रवि-सा है अदृश्य तुम्हारा इस दुख मय सावन में आना,
पर प्रकाश-सदृश तुम्हारी सुस्मृति का कण-कण में छाना !
नयन अश्रुमय, पुलकित अंग-अंग, निश्चय मुझे नाथ तुम आये,
दरस वंचिता मै हारी हूँ, नाथ ! पाप-घन नभ मे छाये।
तुम मुझ में हो, मै तुम मे हूँ, सभी-जानती हूँ जीवन-धन !
पर साकार नहीं तुम प्रिय धन, कैसे सहूँ नाथ यह दंशन !

और मैं कह रही हूँ—'देव ! रहो'

देव रहो प्रतिमा हो कर ही, पद-रज से तो खूब करूँ आलिंगन।
रजत-दुकूल एक पाटाम्बर छा कर दब जाते धरणी पर,
पथ-पथ सीकर से बन मधुकर, गुंजित कर दूँ अपना नाद

समझ रही हूँ—'अनंत जीवन' है

जग लघ है अनंत जीवन, जीवन है अनंत यौवन !
मिथ्या और काल, लय होंगे चिर मेरी सत्य नदी के उर पर।
अंधकार तम नहीं रहेगा मेरी ज्योति-किरण को छू कर !
परमानंद पूर्ण है जीवन, जीवन है अनंत यौवन !

देख रही हूँ—'कैसा आनंद' है !

यह कैसा जीवन आनन्द !

तुम आराध्य देवि जीवन की, भग्न-सदन की मृदु प्रतिमा थी,
अहो कुमुदिनी-वल्लभ चंद, यह कैसा जीवन आनंद ?
भक्ति भाव से लाया कलिका, जान उन्हें सुख-स्रोत विमल का,
तुम ने ठुकराये कह-मंद, यह कैसा जीवन आनंद !
मैं ने वचन हृदय में गुथ कर, टूटी फूटी वीणा ले कर
गाया रोकर निष्ठुर मंद, यह कैसा जीवन आनंद !
हिलते तरु पल्लव मुख सुंदर, दुहराते थे यह मेरा स्वर
छिप सुनते तुम अपना छंद, यह कैसा जीवन आनंद।

मेरी अमिट लालसाओं का 'मधु कोष' जीवनोत्सर्ग चाहता है ! इसे किस पर न्यौछावर करदूँ ?

कमलिनी के पराग का कोश !
संचित है सब राग वही पर, मौन हृदय अनुराग वही पर,
और सरस आनन्द वहीं पर, वह छोटा-सा मधुर मधु कोश !
किस पर कर दूं वह न्यौछावर ?
किस का कर दूं मैं चुम्बित कर ?
कहो कौन वह प्रियतम जीवन ?
अमिट लालसा भरा यह कोश !

देव ! जीवन पर्यन्त तुम्हारी हृदय-प्रतिमा, माता सरस्वती के चरणों में ही यह मधु कोष रहे ! अनत यौवन इस लघु जग को रूप रेखाओं में परमानंद पूर्ण सौन्दर्य बन गया है। वही सौन्दर्य मेरे प्राणों में घुला हुआ है उस मधुर रूप का यह 'हृदय-प्रहरी' है—

यह कैसा रूप मधुर प्रिय री ? बना हृदय प्रहरी !
प्रिय आगमन काल की सुंदर, शरच्चन्द्रिका-री !
छिद्र-छिद्र से प्रकटित होती, हँस-हँस आभा-सी
वह विभावरी की सुन्दर-सी, ध्वनिमय लहरी !

और किरणों की-सी मधुर सुखमय रेखा 'मानस-प्रतिमा' बन अपना लेखा हृदय मे लिख रही है—

ओ सर्वस्व हृदय की प्रतिमा, प्रिया मधुर सुखमय रेखा !
लिखो-लिखो इस शून्य हृदय में किरणों की-सी मधुलेखा,
स्पदित कर दो निश्चल काया, फैला दो नीरव छाया,
ओ सर्वस्व हृदय की प्रतिमा, प्रिया मधुर सुखमय रेखा !

प्राण उसे न देखने पर भी पहिचानते है, न छूने पर भी जानते है, न सुनने पर भी सुनते है, उन मे रहने वाली प्राण--छाया सुन्दर है, पावन सुन्दर, विश्वासी का यही विश्वास होता है—

मै ने न कभी देखा तुम को, पर प्राण तुम्हारी ही छाया।
जो रहती है मेरे उर में, वह सुंदर है पावन सुन्दर !
मैं ने न सुना कहते तुम को, पर मेरे पूजा करने पर
जो वाणी-सुधा बरसती है, वह सुंदर है पावन सुंदर !
मै उन स्पर्शों की क्या जानूँ ? पर मेरी गीली पलकों पर,
जो मृदुल हथेली फिरती है, वह सुंदर है पावन सुंदर !

उस की आत्मा अपनी आँखों में नीर भरे रहती है। उस के मौन अधर उस की व्यथा मौन व्यथा की कहानी कहते है—
'मेरे प्रिय !'

मेरे प्रिय का सब ही अभिनंदन करते हैं,
मेरे प्रिय को सब ही प्रिय, सुंदर कहते हैं।
मैं लज्जा से अरुण, गर्व से भर जाती हूँ,
मेरे प्रिय सुन्दर शशि से मृदु मृदु हँसते हैं।
वे जब आते, लोग प्रतीक्षा करते रहते हैं
जा चुकने पर कथा उन्ही की सब कहते हैं,
मेरे गृह पर वे प्रवेश पाने की विनती बहुत—
समय तक कर चुपचाप खड़े रहते हैं,
मेरे प्रिय वसन्त से फूलों को लाते हैं,
लोग उन्हें लख, भौरों से गुंजन गाते हैं,
वे उन सब को भूल कुंज पर मेरी आते,
मेरे फूल न लेने पर प्रिय अकुलाते हैं।
वे जब होते मेरे पास न कुछ भी कहती हूँ,
वे जब छूते स्पर्श न मै उन के सहती हूँ,
हो निराश जब वे शशि-से आहें भर जाते,
मै अपनी आँखों में नीर भरे रहती हूँ।

मिलन सुख की कल्पना-जनित भावानुभूति उसे उन्माद दशा मे ले जाती है और वह अपनी इस अकथ गाथा मे लीन हो प्रकपाश्रुओं को बहाती हुई भाव-विभोर हो गाने लगी है—उसे 'मिलनोन्माद' हो गया है—

पग कोस हुआ, गति मंद हुई,
मै चल न सकी सखि चल न सकी।

श्वासों से दोलित वक्ष हुआ,
नत नेत्र हुए पद लक्ष्य हुआ,
शशि-सम्मुख चलती रजनी-सी,
मैं छिप न सकी सखि छिप न सकी,
आभा की पीत प्रभा, गिरि पर,
सूनी कुजें सब तममयि कर,
खिलने को कहती थी मुझ को,
मैं खिल न सकी सखि खुल न सकी।
गिरि–गृह से बाहर आ सजनी,
वह रूप प्रभा छिटका अपनी,
स्थित हो थे देख रहे मुझ को,
लज्जावनता सखि चल न सकी।

जिस "मंजु रूप" को देखकर उस का मन अलिन्द सम धाया वही उस के लिये सब कुछ है—

देख रूप प्रिय मंजु तुम्हारा, मन अलिन्द सम धाया,
कविता में है वास तुम्हारा, कवि मन मे डेरा डाला,
लख-लख तेरा तन मृदु प्यारा, मन बनता मतवाला,
पवन मद में घुल-घुल प्यारे, सुरभि बने अति न्यारे,
सरिता-सर मे गोरे—काले, रहते हो मतवाले।
निर्धन के धन, श्याम तुम्ही हो, मन बनता मतवाला,
अबला के बल नाथ तुम्ही हो, मन में फंदा डाला।
राम-श्याम-ईश्वर तुम ही हो, कैसा अलख निराला

संसृति-सागर-सेतु तुम्ही हो, तुम ने डेरा डाला,
रूप मंजु को देख तुम्हारा, मन बनता मतवाला।

उसी को अपनेपन के भरोसे "उपालंभ" दिया जा सकता है—

तुम प्रभात बन कर आये थे मुझसे नाथ खेलने होली,
मैं रजनी बन, नाथ! छिप गई लिए हुए रंगो की झोली!
तुम रितु-पति बन जगा गये बन के मृदु-द्रुम-दल पात,
कुसुम-हीन पादप बन कर मैं रही छिपाए अपना गात!
तुम निदाघ में बन मरीचि प्रिय, स्रवित कर गये दल नीहार
मैं पत्थर बन बूँद बूँद से लिखती थी नव प्यार!
सावन में घन बन आए तुम, लिए हुए घन अंधकार
मैं बिजली बन समा गई आलोकित कर संसार!
मुझे प्यार करने आते तुम, मैं जाती हूँ तुम से दूर
पहले पहल तुम्हीने मुझको सिखलाया पर होना क्रूर!

और उसी की 'प्रतिमा' से अपनी व्यथा व्यक्त की जा सकती है----

प्रतिमे! अब तो थोड़ा पसीज!

सहने पड़ते क्या घाम-वात! मेरे उपास्य तुम को न ज्ञात
होगा क्या मेरा दुःख भार! हे देव आज तुम प्रथम बार
बो लो इस भू मे बचन बीज, प्रतिमे अब तो थोड़ा पसीज!
अब शुष्क हो गई प्रकृति गोद, हैं चले गये हा! सभी मोद!
है दूर गया अब वह वसंत! उसके नृत्यों का हुआ अन्त,
विकल-प्राण-तन-मन छीज-छीज, प्रतिमे अब तो थोड़ा पसीज
सुन कर भी मैं पिकी कूक, अब तक थी रहती बनी मूक,

पर अब आई हूँ कर सिंगार, तन तृप्त करो प्रिय प्रथमबार
आनंद मग्न है आर्द्र खीझ, प्रतिमे अब तो थोड़ा पसीज !

उसी को अपना दीन रुदन सुनाया जा सकता है---उसको 'तमसा वृत्त हार' अर्पित किया जा सकता है--

इस लघु जीवन का सेवा था एक मात्र सत्कार्य !
मिलन प्रतीक्षा क्षण भर ही थी, सेवा थी अनिवार्य !
देव! हृदय से सेवा करली, रो लूँ अब जी खोल !
एक आश लघु जीवन की अब मुक्त लहरी लोल !
व्यथा, व्यथामय इस जीवन की, पृथ्वी भार स्वरूप!
हुई कभी क्या तव पद पूजन के भी थी अनुरूप ?
हाय ! नही!! पर प्राण-धन! तुम मेरे अक्षय शृङ्गार!
रहने दो, धारण तुम कर लो यह तमसावृत हार !

अपने जिस अक्षय शृङ्गार को मानव-आत्मा तमसावृत हार भी अर्पित कर सकती है वह मन-मोर जब दृष्टि-पथ मे आ जाता है तब पृथ्वी के भार स्वरूप लगने पर भी छवि-छोर को देख लेने से नयन कोर भीग जाती है और चेतना प्रति क्षण 'आकुल प्रतीक्षा' का रूप ले लेती है---

तुम्हारा विस्तृत सज्जित प्रांगण, देखती हूँ शैशव में मुग्ध
चपलता से होकर विश्रान्त, तरल-यौवन बन पा विश्राम,
वहीं होती रहती हूँ क्लान्त, देख-देख हिल्लोलित प्रांगण,
उधर निर्जन अश्रान्त की ओर, निरखती हूँ जब मैं छबि छोर,
दृष्टि-पथ में आता मन-मोर, भीगती इन नयनों की कोर,

विश्व-पति लखती शुभ्र कण-कण, हृदय में आता जब आनंद,
दीप हो जाता है मंद, और आ करके वायु हिलोर,
देखती है मुझ को सानंद, बनी प्रतीक्षा आकुल प्रतिक्षण !
विद्युत-सा पीडा-प्रवाह रोका ही नही जाता। उस की आकुल बरसाती पीडा जाग उठती है और धूमिल सध्या स्मृति के उत्ताल तरगों मे बहने के अलावा कोई भी दूसरी राह नही रह जाती—

भर आती आँखें,
हाय जैसे किसी ने छेड़ दी हो सोई तंत्री,
केवल कौतूहल कारण, वह कसक कहानी,
अधरों में आ जाती, कह पड़ती मैं दीवानी,
रोकना चाहती हूँ किन्तु नही रोका जाता !
यह विद्युत-प्रवाह, उमड पड़ता है, देता दाह,
मूक-सी बनी चुपचाप, ढूँढती हूँ इस उर में शाप,
कितना उन का अनुराग !
वह आकुल बरसाती पीड़ा उठती है जाग,
इस धूमिल संध्या में,
मुँदा हुआ उत्पल-सा मन, याद करता है मातृ-चुम्बन,
वह हिमगिरि इंगित, भर आती आँखें हो जाता हृदय रिक्त,
माता तुम्हारे पाद-पद्मों से दूर-दूर आ पडी हूँ,
दीप जलाने की सुधि न रहती,
सध्ये ! तेरी इन तरगों में, उत्ताल तरंगों मे
मै स्मृति में ही हूँ बहती !

घर से दूर, माता के देश से दूर होने से उसे अपनी जन्म--भूमि की याद सताती है उसे 'खुद' लगने लगती है और 'माँ का दुलार' स्मृति के आँसू बन उमड पडता है—

माँ का दुलार, वह सरस सहज सुधामय प्यार !
आज बालिका छोड़ दिया तू ने वह हार,
कटकों के ढिग आ चुपचाप,
बढ़ी ज्यों ही लेने वह फूल ,हुआ दारुण मृदु तन में शूल,
नियति का कैसा अकरुण शाप ।
हाँ यह शूल का दशन सहा, 'हाय माँ !' बस यह ही कहा !
कंटकों से छिद गया शरीर, इस जगह पर बसते वे पीर !
देवि ! सदा, घर में बहती है सतत दया की धार,
देवि चुनने को कुसुम प्रिय के लिए,
बहुत सहनी हाय यह होगी व्यथा,
किन्तु सह कर कष्ट क्या होगा मिलन ?
हाय रोना ? री अरी यह ही कथा !

अश्रुओं को ही झर-झर कर वे घाव भरने होंगे जो, हाथों मे खून बहाते कटकों के कसकने और हृदय मे तीखे शायकों के चुभने से सजग हो जाते है। पग-पग पर 'दशन' आते है पर यह जीवन मिटता नही—

पग-पग पर दंशन ! पर न मिटेगा यह जीवन !
जब जब कसकेंगे हाथों में खून बहाते कटक !
जब-जब हाय चुभेंगे उर में तीखे—तीखे शायक,

बहा अश्रु तब तब तुझ को रे, भरने होंगे वे व्रण
पग-पग पर दंशन ! पर न मिटेगा यह जीवन !

'मरण भी जब' नहीं आता तब चुपचाप एकान्त मे आँसू ही बहाये जा सकते हैं—

मरण भी जब नहीं आता
शुष्क पल्लव को उड़ाने पवन भी जब नही आता
शुष्क तरु को जलाने दहन भी जब नही आता।

किन्तु कोमलता तब भी हृदय मे प्रिय का स्मरण करती है, तब भी उस की सदेच्छा स्वजन की मगल कामना करती है। उस का 'छलकता यौवन' है—

पागल उसे न करना, मेरे ही जैसा उन्मन !
पवन ही बन कर न कहलाना मेरा उच्छ्वास !
छलकता है उस का यौवन,
भ्रमर प्राणों में बन गुंजन !

किन्तु अपनी 'हृदय-सुरभि' को भी प्रिय तक पहुँचाने की चाह सहज ही जगती है—

सौरभ, पवन अरी लेजा तू दूर देश के अलि के पास !
कहना इस यौवन तरंग का होता है घुल घुल कर नाश,
अलि आये हो देख कर, क्यों लेते हो अब निश्वास ?
जीता रख न सकी जिस को, अब उसे जिलायेगा विश्वास !

प्रणयी-प्राणों की भाषा, मौन रह कर अधिक कहना जानती है। 'कूक भरी मूकता' को अपनी 'शिथिल आह' का घना विश्वास होता

है। 'स्वाति बूँद' के लिए ऐसे प्राण, चातक-चातकी बन असह्य व्यथा के क्षणों मे प्रियतम का 'आवाहन' करने लगते है, 'हे प्रिय आओ'—

प्रियतम जीवन सुख धाओ! रागिनि चातकि गाती है
सिहर-सिहर वह भी जाती है, नृत्य दिखा कर दुख पाती है
दुख पाती प्रियतम आओ, प्रियतम जीवन सुख धाओ!
जहाँ विपिन मधु-मास खिला है, हृदयोन्मत्त उच्छ्वास मिला है
कंटक दुख पाता आओ, प्रियतम जीवन सुख धाओ!
कोयल कू कू कुहक रही है, इस उपवन की विकल कली है
आशा केवल एक रही है, प्रियतम आवें, हे प्रिय आओ!

प्रियतम के दूर चले जाने के साथ हँसने की आशा भी दूर चली जाती है, तब भी विकल श्रवणों मे किसी का सुधामय सुख छाया रहता है और जीवन-समाधि से निकले निश्वासों मे आशा कोयल की 'मौन भाषा' सुनाई देती है—

आ निश्वास जीवन-समाधि-पर मृदु कंठ से कोयल-सा
अपना स्वर बरसा-बरसा कर, देना हाँ मुझ को आशा!
किस का सुधामय छा रहा, इन विकल श्रवणों में सुख?
गई दूर हँसने की आशा, प्राण! मौन है तेरी भाषा!

जीवन-शशधर जब रोती लहरों पर शनैः-शनैः घुलता है, एक एक पग डग मग कर धरता है, प्राण अंतिम साँसें भरता है तब भी 'आशा नहीं' मरती—

वह क्यों रहता है बचा हुआ? जिसे छोड़ कर तुम जाती हो?

यह सोच कि शायद मौत मुझे लेने को जल्दी आती हो।

तब भी अपने प्राणों को कपूर की तरह उड़ता देख कर 'जीवन-शशि' पतझड के पीले पात को फूलों के मृदुल तम मधुमास के फिर से आने की चाह बनी रहती है—

पग पग धर, डग-मग कर, मेरा हो रहा क्षीण जीवन का शशधर'

उडता कपूर सदृश गिरि के शिखरों पर,

घुलता है शनै-शनै, रोती लहरों पर,

धरती पड़ रही पीत, पिघल रहा अम्बर

जीवन-शशि आज रहा अंतिम साँसे भर, पग-पग धर, डग मग कर

और वह चाह 'आकुल प्रश्न' के रूप मे भी व्यक्त हो जाती है—

बधु फिर होगा क्या मधु मास ? मृदुलतम फूलो का मधु-मास ?

यही पतझड़ का पीलापात, हरा देखेगा क्या निज गात ?

हरी होगी क्या मेरी आश ? बधु फिर होगा मधु मास ?

जीवन-चक्र भी रितुओके अस्थिर नर्तन भाँतिकी बाहर भीतर एक रस चलता रहता है।



मेघ-मुक्ता

वर्षा की रितु ने भारत की प्रकृति मे अपनी सुन्दरता से मानव-हृदय मे सौन्दर्य-वेदना के एक से एक सुन्दर अध्याय जोडे है। वैदिक कवि की कल्पनाओं को उस ने एक प्रकार की उत्तेजना दी है तो महा-काव्यों, मुक्त गीतियों और प्रबध, अर्द्ध प्रबन्ध मुक्तकों को दूसरी प्रकार की। वाल्मीकि की रामायण, तुलसी के रामचरित--मानस, तुलसी की गीतावली, कालिदास के मेघदूत और रितु-सहार मे वर्षा एक जैसे रूप मे नही है, न सेनापति, भूषण, प्रसाद, पत, निराला, गुरु भक्तसिंह, चन्द्रकुँवर और राजस्थान के कवियों की वर्षा मे ही एक रूपता है, हिन्दी मे वर्षा का कवि चन्द्रकुँवर के रूप मे पाया है।

देश-देश के वेदना के अमर गायकों के चरण तल पर अपने दीर्घ दुःख की रजनियाँ बिताने वाले चन्द्रकुँवर के पथ-प्रदर्शक कालिदास रहे है, इस मलय-पवन ने उनके लिए सौन्दर्य के द्वार खोल दिये, उनके हृदय मे पहिले भी सौन्दर्य के कुसुम विकसित होते थे किन्तु वे तुरन्त ही मुरझा जाते थे हिमालय का आधार स्तम्भ पाकर, चन्द्रकुँवर जब कालिदास के बताए सौन्दर्य--पथ चले तो भवभूति ने अपनी करुणा का वरदान उन्हे दिया, हिमालय की प्रकृति, उस प्रकृति के आनंदी-निर्झरो और स्नेहमयी माता की शीतल गोद ने उन्हे शांति के स्वर दिये, बहिन ने उन्हें सगीत दिया, प्रेयसी ने वेदना और गौतम ने दु.ख की

वरुणा, वाल्मीकि ने अरण्यानी सरलता और जीवन के अनुभवों ने व्यापकता, उन का काव्य इन सब से सपन्न हुआ, सबको उन्हों ने अपनी नदी मे मिला दिया और अपने लिए अपनी काव्य मदाकिनी के लिए विपमताओं के बीच भी स्वय, राह ढूँढ ली—

(१)

मिले मिलें मुझ में सरिताएँ, पर लहरें हों अपनी
देश-देश की हो सरिताएँ, पर लहरें हों अपनी,
देश देश से आ-आकर के धाराएँ जीवन की,
लाएँ आशाएँ, भाषाएँ, गिरि-गिरि की बन-बन की,
मै सब सुनूँ न बदले आशा, पर मेरे जीवन की।
पड़ें हृदय पर मेरे, शशि की, मेघों की छायाएँ
पर मेरे तल के मणि, अपनी बदले नही प्रभाएँ।

(२)

मै मर जाऊँगा पर मेरे जीवन का आनंद नही,
झर जावेगे पत्र कुसुम तरु, पर मधु-प्राण वसंत नही,
सच है घन तम में खो जाते, स्रोत सुनहले दिन के,
पर प्राची से झरने वाली आशा का तो अन्त नही,

(३)

जिस आशा से निर्झर झरता, पीछे कभी न फिरता,
जिस आशा से सघन बरसता मेघ धरा पर गिरता,
जिस आशा से बीज धरा मे छिप कर मिटता रहता,
उसी मधुर आशा से मै भी निज जीवन को सहता,

(४)

कुछ झरनों को मिलती नदियाँ अपने ही आँगन में
कुछ निराश जीवन भर उनकी करते खोज भुवन में
सब बीजों का सफल न होता जीवन की बलि देना
नही चाहता हूँ मै फिर भी निज साधना बदलना।

(५)

मेरी नदी स्वयं अपने पथ को खोजेगी,
यदि विलीन होना होगा उसको मरुओं में
वही जायगी वह, मेरी दुर्बल बाहो को—
देख न अपने मन के बेगो को रोकेगी,
यदि बहना होगा उसको फूलोंके बन में
मरु को अपने हाथो से सींच-सींच कर
वह सूखे पथ को भी फूलों से भर देगी।

(६)

बह रही मृत्यु के सागर मे जीवन की छोटी सी तरणी।
आते नवीन दिन, नव रातें, पर बहती ही रहती तरणी।
लहरें भूखी हैं प्यासी हैं, वे मुझे घेर कर हँसती है,
जाने किस धुंधले सागर मे वे इस तरणी को डसती है
पर अभी शान्त है कुटिल उदधि, हँसता प्रसन्न मुख आसमान
गाते हैं सुख से इसीलिए तरणी पर चिन्ता रहित प्राण!

७

मेरे आँसू जल से घुल-घुल आते हैं कविता के अक्षर'

मै हूँ नश्वर हे बंधु, किन्तु मेरा विषाद है अजर अमर,
वह घाव कलेजे का भरता जो कभी नही उपचारों से
जिस को न विमुख कर सकता है ईश्वर भी मेरे द्वारों से
वह आग जलाता रहता है, मै जलता रहता हूँ हँस-हँस कर
मै हूँ नश्वर हे बंधु ! किन्तु मेरा विषाद है अजर अमर!

८

सोच मत कर ग्रीष्म को लख हे सदय भागीरथी !
दीन होगा क्यों हिमालय ? हे सदय भागीरथी।
पहुँच कर तट पर तुम्हारे निखिल जग की प्यास ले,
प्राण प्यासे ही न लौटेंगे कभी भागीरथी !
कर तुम्हारे पुण्य दर्शन छू तुम्हारे चरण पावन,
खो तुम्ही में प्राण खोजेंगे निलय भागीरथी।
खो गई मरु--भूमि में जो आज प्यासी मिट रहीं,
सोच उन का भाग्य तुम पाओ न भय भागीरथी !

हिमालय से बल संचित करने वाली इस कवि की सदय भागीरथी, दुर्भाग्यों के प्रचण्ड ग्रीष्म-ताप मे भी अपनी काव्य-मन्दाकिनी के लिए राह ढूँढती रही। अपने प्रेम के रस से उसे सिंचित करती रही। प्रेम के पार्थिव क्षेत्र मे भी उस ने अपने हृदय के बट--बीज को एकान्त मे सीचा, यह जानते हुए भी कि जिस दिन वह वृक्ष फल फलने लगा उस दिन तक उस का भौतिक जीवन ही समाप्त हो जावेगा----

१

विश्व-शिला पर हिम बन आता, जल बन जीवन बह जाता,
दुर्ग खड़ा हो बालू का-सा, क्षण भर ही में ढह जाता,
नील गगन में घटा सदृश वह धूम—धाम से है उठता,
और क्षणों में चिन्ह न उस का शेष कही भी रह जाता !

२

मानव के सुन्दर जीवन में पतझड़ बसंत दोनो
आशा की कोमल चितवन में, पतझड़ वसन्त दोनों ।
हैं आज रूप का पार नही पग-पग पर भौंरे गूँज रहे
कल दीन हृदय को छोड़ गये,मृदु हास औ आँसू दोनों ।

३

इच्छाओं का अन्त कहाँ है ? कहाँ लोभ की सीमा ?
बहती गर्जन कर तृष्णा की नदी भयंकर भीमा !

४

सुन्दरता ने महल बनाया हिम से अपना ।

५

जग में यदि मन चाहती होती अपने हाथ ।
कौन विधाता का कहो, देता फिर तो साथ !

६

मुझे कह दो क्या करूँ मै ? बता दो कैसे रहूँ मै ?
कौन वह जिस का भरोसा कर सकूँ मैं ?
पदों पर जिस के हृदय को धर सकूँ मैं ?

प्रेम को विश्वास को जो नही मारे,
कहाॅ ऐसे स्नेह से बाहें भरू मै ?

७

प्रेम का बिरवा फलेगा, सींचने को ही बने तुम !
और जो छाया करेंगे हृदय सेवन, वे न जाने इस समय होंगे कहाॅ
और देखेगे हमारे वृक्ष को जो
विहग गण के गान से मुखरित सुकुसुमित,
वे इसी के बीज से तम गर्भ में
कर रहे होंगे अचेतन हो शयन,
तुम अकेले सींचते हो जानते
वृक्ष में जब फल फलेंगे तुम न होगे
वृक्ष के घन मूल में जब तैरती होगी सुधा-सी घनी छाया !
उस समय ही आश मन की, यह तुम्हारी फल सकेगी !

८

कुछ दिनों में आज के सुख भी न होंगे,
और भी निष्ठुर पवन बन जायगी,
शुष्क वृन्तों पर सिसकते ये दुखी मुख भी न होंगे।
विश्व में कोई कहीं अपना न होगा
हाय! उर मे सुख कहाँ! ये कसकते दुख भी न होंगे!
उड़ चलेंगी पीत किरणें लोचनों से
मृत्यु जब उर पर पड़ेगी शिशिर के ठिठुरे घनों से,
बचे रहने के लिए तब सुख कहाॅ, यही दुख भी न होंगे।

६

शुष्क सरिता के किनारे, प्रेत-छाया घूमती !

चाँदनी में मत्र पढ़ती फिर खुशी से झूमती !

पेड़ नीचे कौन से जादू बचन सुन तुम जगी ?

मत्र मुग्धा, मंत्र विवशा,तुम किधर जाने लगी ?

(१०)

फिर न स्वर को मंद करना !

कटको के दंश से भय भीत हो कर, चरण फिर पीछे न धरना !

मृत्यु का मुख देख कर के पीत हो कर, तुम अभय हो कर विचरन

कुटिल वज्रों के पथो से सूर्य सा अक्षत निकलना,

फिर न स्वर को मद करना,

(११)

देख मुझ को विश्व में असहाय तुम ने कंटकों में गिर सिसकता,

था मुझे उर से लगाया, पोंछ कर मेरी व्यथा !

आज वह दिन आ गया पास ही तुम पर तुम्हें मै खो गया ।

स्नेह वही ही प्राण-धन का, मै सशंकित हो गया

सोच तुम खो जाओगे, हृदय, प्रिय असहाय हो कर रुदन करता !

(१२)

मै विकंपित हो उठा कल रात के घन देख कर !

आज तक भी तो गगन में थे घिरे आषाढ़ के घन ।

आज तक भी तो उन्हों ने था किया उन्मत्त गर्जन !

क्यों कँपा मुझ को गई कल रात की खर तर पवन ?

(१३)

बाँह से मेरी लिपट कल भूल से,
रह गये प्रिय एक पल तुम फूल से !
मधुर हँसते इस हृदय के पास ही,
याद आई मुझे उस विश्वास की !
जो कभी था तुम्हें मेरी बाँह पर,
नयन मेरे भर चले औ' बाँह भी !
छोड़ तुम को गिरी वह फिर त्रस्त हो,
सुख बना दुख, विषम मेरी भूल से !

(१४)

मै चला स्वर सुन नही पडते जहाँ, अब बुलाना मत मुझे,
मै न लौटूँगा सुखी रह सीखना, अब भुलाना ही मुझे !
प्यार करना अब उसे जो है बचा, प्यार करना अब उसे !
धीर धरना, शान्त रहना, काटना इस विपद को प्यार से !

(१५)

आँसुओं के बीच मुझको तुम दृगो मे क्यों धरे हो ?
जो न अब ससार में है पालते अब हा! उसे हो !
शशि, गगन, मे जब न रहता, उदधि उसको भूल जाते
मर चुका जो फूल उस को क्यो न भू पर डाल देते !

(१६)

मर रहा हूँ बहुत दिन से, पर न मै मर पा रहा हूँ !
काल का रिण साँस जग में भर नहीं मै पा रहा हूँ !

जा रहे हैं लोग दुर्गम पर्वतों को लाँघ कर-

हाथ मलता देखता हूँ मैं न कुछ कर पा रहा हूँ !

(१७)

चीर कर रख दूं हृदय, दुख हाय इतना है मुझे !

कह न सकते अश्रु आता रुदन कितना है मुझे !

अचानक यदि मरण होता, स्वर्ग-सा मिलता मुझे।

हाय तिल-तिल कर, तडफ कर किन्तु मरना है मुझे।

(१८)

बिछुड़ तुम से हाय ! क्या क्या नही देखा !

इस हृदय ने हाय क्या क्या नहीं सीखा !

अन्ध था वह तम, बधिर वे वज्र थे,

कठिन थे वे शूल विष थे उबलते

न जाने कितने दिनों आ मृत्यु ने,

नखों से इस हृदय के फल को परेखा

बिछुड़ तुम से हाय ! क्या क्या नही देखा !

इस हृदय ने हाय क्या क्या नही सीखा।

(१८)

मैंने पुरुष का जन्म पाया, शाप यह मुझको मिला,

और तुम नारी बनी, विधि ने हमेशा भूल की।

मानवों के बीच में यदि, प्रेम करना पाप था,

क्यों बने हम तरु नहीं, नीले द्रुमों के बीच में ?

हम खिलाते फूल तन में, एक ही मधु के उदय से,

काँपते हम साथ प्रेयसि, एक ही शीतल पवन से।
एक ही शशि-मुख हमें, देता प्रणय की चाँदनी,
एक ही विहगी हमें, गाती प्रणय की रागिनी।
एक से ही स्वप्न सुख-दुख, एक से होते हमारे,
एक सी ही प्यास होती, एक हो सरिता किनारे।
ये बनों के मुक्त पक्षी, मानवो से हैं सुखी,
ये प्रणय करके सुखी हैं, हम प्रणय करके दुखी।
तरु करा देते मिलन, इन का मनोहर पल्लवो मे,
और हम होते तिरस्कृत, इस जगत के मानवों में।
पर जगत बलवान हो तुम, क्षुद्र प्रेमी प्राण हैं,
तुम सुखी हो रो रहे, पर अस्त प्रेमी प्राण हैं।

(१६)

'वह सुबह को घूमती थी, निज अनुज का हाथ ले',
शब्द ये शिशु ग्वाल के, मेरे हृदय में रह गये।
वह छिपा क्या देह पल्लव से मुझे लखती रही?
प्रेम-छाया-सी सदा वह, अनुसरण करती रही।
मै लगा मृत पल्लवों में, चरण लाली खोजने,
मै लगा पद चाप से, दूर्वा दबी कुछ देखने।
वह कही दीखी नही, फिर आश ही रोती रही,
सिसकियों मे आह भरती, दूब भी रोती रही।
आश भो अब मर चुकी है, शून्य से हूँ मै भरा,
गिर रहे हैं चन्द्र तारे, मिट रही है यह धरा,

क्यों दुखों के इन क्षणों में, याद आती अब मुझे,
वह सुबह को घूमती थी, निज अनुज का हाथ ले।

(२०)

अभी भी यदि आश कुछ होती !
शिशिर से टूट कर भू पर गिरे इस दीन पल्लव को,
हृदय से वृक्ष के लग कर, हवा के साथ हिलने की,
अभी भी यदि कुछ आश होती !
बधिक के हाथ से भू पर, गिरे इस दीन मृग-शिशु को,
मृगों के झुण्ड मे जाकर, वनों के बीच फिरने की,
अभी भी यदि आश कुछ होती !
दुखों के भार के नीचे, सिसकते इस दुखी उर को,
किसी की गोद में जाकर, सुखी की भाँति मिटने की,
अभी भी यदि आश कुछ होती !

(२१)

तुम ने क्यों न कही मन की?
रहे बंधु तुम सदा पास ही, खोज तुम्हें निशि-दिन उदास ही,
देख, व्यथित हो लौट गई मैं, तुमने क्यों न कहीं मन की ?
तुम अन्तर मे आग छिपाये, रहे दृष्टि पर शान्ति बिछाये,
मै न भूल समझी जीवन की, तुम ने क्यों न कही मन की ?
खो मुझ को जब शून्य भवन में, तुम बैठे धर मुझे नयन में,
कर उदास रजनी यौवन की, कहते करुण कथा मन की !
मै न सुधा लेकर हाथों में, आई उन सूनी रातों में,

स्मिति बन कर नव जीवन की, मै बन रही व्यथा मन की ?
जग में मै अब दूर जा चुकी, रो-रो निज दुख को भुला चुकी,
अब मै विकल विवश बंधन मे, कहते क्यो मुझसे मन की ?

(२२)

व्यक्त मै यदि प्रेम करता, तुम्हे जीवन रुदन होता !
जब तुम्हारे वक्ष मे मै, किसी मधुमाती निशा मे,
प्राण अपने छोड देता, तुम्हें जीवन रुदन होता।
वक्ष में अपने छिपाये, मै रहा अपनी व्यथायें,
जान कर मुझको मरण, करेगा सत्वर हरण,
आग वह मेरे हृदय की, इसी से बाहर न झलकी।

(२३)

प्रेम जो करता उसे क्या भूल जाना चाहिए ?
जो पदों पर गिरा उस को क्या कुचलना चाहिए ?
हृदय जो देता उसे क्या घृणा देनी चाहिए ?
देख कर असहाय को क्या मार देना चाहिए ?

(२४)

दो दिनों की प्रीति थी वह और क्या,
भूल वह मुझ को गये अब और क्या ?
गिर गये वे फूल, दीपक बुझ गये,
अब अँधेरा है हृदय में और क्या ?
अब न शशि को देख पायेंगे नयन,
शीश इतना झुक गया है और क्या ?

हँस न पायँगे कभी फिर ये अधर,

हृदय इतना दुख गया है और क्या ?

(२५)

भूल मुझ को भला ही तुम ने किया,

दृगों में अपने न घन घिरने दिया ?

बहा मुझ को भला ही तुम ने किया,

नाव को भारी न जो होने दिया।

नाव से गिर कर तुम्हारी, उदधि में,

तरंगों के बीच मै असहाय हो,

डूबता उठता बहुत दिन तक जिया,

भूल मुझ को भला ही तुम ने किया।

प्रेम के इन आँसुओ को झडी मे जब इन्द्र-वरुण का उत्सुक तूर्य गगन मे बजने लगता है तब सभी की वेदना को समझने वाले सहृदय के उत्सक मन मे भी इन्द्र (आत्मा-वरुण) (करुण-भाव) का तूर्य बजा। जब बिजली ने बादल तोड दिया तब हृदय पर पड़ी कठोरता का आवरण भी टूट गया। जब वह खर तर असिधारा को खीच कर कोमल बादल को चीरने लगी तब कोमल हृदय भी वेदना से चीरा जाने लगा और जब कुछ बादलों के मिट जाने पर कुछ नये आगये तब आँसू भी कुछ मिट गये कुछ नये आगये। दिवस भर आकाश घिरा रहा, भू के उर पर गुरु स्वर छोडता रहा तो चेतन-नभ भी भावों के मेघा से भर कर, काया की पृथ्वी पर गुरु तर स्वर छोडता रहा और अन्तर की सुनीलिमा मे दिनकर (ज्ञानसूर्य)

की किरणे छिपी रहीं। ऊपर नभ मे बादल गरजे तो नीचे धरती पर घन रव से मूर्छित हुई सुकोमल घास उस के उर से लगी पडी रही। जब मद मनोहर पवन उस मूर्छित हुई घास के केश और बर अधर चूम कर चली तो मरी-सी पडी आत्मा भी प्रेम से प्रकंपित न वह पाई। विरह से विकल हुआ पवन धरा पर मडराता ही रह गया। किन्तु जब कज्जल जलधर गिरि पर झुक आए तो देवदारु हर्षित हो गये, सघन अंधियाली देख फूली डाली, डरने अवश्य लगी किन्तु पृथ्वी पर हर्ष-तरगे भी उठने लगी और चन्द्र कुंवर के कपित अधरों पर पुराने गीत आ गये।

(१)

बजा, तुम्हारा तूर्य गगन मे, मेरे उत्सुक मन मे।
सोह रहा बादल के मुख पर रंग-बिरंगा तूर्य मनोहर!
पीछे से रथ चक्र घर्घरित, उमड आ रही घटा घन अमित,
प्रभो तुम्हारी जय कह कर!

(२)

कुछ बरसे बादल, कुछ छाये, कुछ मिट गये, नये कुछ आये,
रहा घिरा आकाश दिवस भर, रहा छोड़ता भू पर गुर स्वर,
अपने अन्तर की सुनीलिमा मे दिनकर की किरण छिपाए!

(३)

मूछित हुई घास घन-रव से, ऊपर नभ में गरजे बादल,
भू पर मूर्छित हुई घास सुकोमल, पड़ी लगी धरती के उर से,
चला पवन जब मद मनोहर, चूम घास के केश, बर अधर,

वह न प्रेम से हुई प्रकंपित, रही मरी-सी पडी धरा पर,
पवन धरा भर मे मँडराया, हो कर विकल विरह से।

(४)

तोड दिया बिजली ने बादल!
कभी खींच खर-तर असि-धारा! चीर रही वह कोमल बादल!
कभी जला चटकीली ज्वाला, जला रही वह कोमल बादल!
कभी अकेले शृंग पर खडी उसे नखों से चीर रही वह,
कभी भुजंगिनी-सी द्रुतगति से उस के तन में दौड रही वह,
यह शीशे सा निर्मल बादल, तोड़ दिया बिजली ने बादल!

(५)

जब नवीन वर्षा के बादल, बरसाने लगते अविरल जल
भर आती धरती की आँखें, नदियाँ होती बाढ़ से विकल
तब तू मेरे रेतीले तट! क्यों जल में निमग्न हो जाता?
किस की सुधि का जल यह बादल रो रो नदियो मे बरसाता?

(६)

आज मंदाकिनी जल मे खेलते हैं वरुण अपनी प्रणय-लीला!
घोर केश समूह छितरा काटती अपने किनारे,
गगन को घन-घन कँपाती, पर्वतों को तोड़ विखरा!
गज घटा से बन बहाती आज कर्दम धूमिला सरि
नाचती उन्मादिनी-सी!
नाचते हैं वरुण, जल में लहर-लहरों में उठाए हाथ पीला!
आज मंदाकिनी जल मे खेलते हैं वरुण अपनी प्रणय--लीला,

(७)

हे घन-वसने विद्यु त-हासिनि ! नृत्य चंचले! नूपुर-रणिते !
आर्द्र अ चले! तरल लोचने! हे घन-घन स्वन मृदग-ध्वनिते !
सुघर अप्सरे! मनोहारिणी! हे सलास कोमल-पद चारिणी !
देख रूप घन-श्याम मनोहर, त्रिभुवन चकित, पयोनिधि चंचल !
व्याकुल निर्झर, उन्मद सरि दल, विन्दु विकल, नभ मुकुर सरोवर,
शैल-शैल पर उड़ते बादल, झरती धाराएँ झर झर !
घन-बसने, वसन तुम्हारा झरता झर झर !

(८)

आधी रात चाँदनी उजली, आधी रात मनोहर बदली !
आधी रात हँसी प्रिय मुख पर, आधी रात यानों की हलचल !
आधी-रात चाँदनी मदिरा, आधी रात घन सुरा छल छला
आधी-रात मिलन खामोशी, साँस निकलना भी असहन !
आधी रात छमाछम छमछम, वसुधा भर में नर्तन !

(९)

हे मेघ गामिनी पवन परी, अयि सजल लोचना सुन्दरी !
नभ के कोने कोने से उठ, उतरो हे मुक्त केशिनी!
प्रत्येक साल पर बरसो तुम, हे जीवन-विन्दु वर्षिणी !
शब्दायमान नूपुर नर्तन, गुंजित काञ्ची का कल दोलन,
वीणा ध्वनि पशती प्राणों में, तुम निकट आ रही सुंदरी !
टिक गया शाल पर जलद-यान, फैला रहस्य मय अन्धकार
छाया में इस पुलकित तन पर चुम्बन, बरसे झर झर अपार !

भीगा मेरा नवीन यौवन, वर्षा मिलाप से हो शीतल,
ये अ ग--अ ग खिल पनप उठे, नस-नस का रक्त हुआ चंचल !

(१०)

राज हंस-सा स्वच्छ कलेवर, हँसी भरे पर फैला सुन्दर !
उड़ता नील-नील गिरि तट पर,मंद मंद बादल का बालक!
गौर वर्ण गंगा तरंग सा, देह हीन शोभन अनंग-सा
शब्द हीन, चिर मौन चद्र-सा, मन्द मन्द उडता शिशु-बादल

(११)

पत्ते-पत्ते, शाख-शाख पर बैठा बादल,
छिद्र-छिद्र में यह नवीन वर्षा का बादल
लगा बरसने तरु झर-झर कर, बन नवीन वर्षा का बादल,
लगी बरसने हरी दूब पर, कोयल सुर-सी बूँद सुकोमल!
म.र पास आकर जीवन धन, हुआ खुशी से पागल-पागल !

(१२)

नभ मे वर्षा की छवि छाई, उर में पावस की रितु आई !
मेघों के गद् गद् स्वर सुन कर,उर में पावस की रितु आई
बरसी जब, शृङ्गों पर बरसा, अन्तर मे व्यथा हुई सहसा!
बरसी जब, शृङ्गो पर बरसा, उर मे पावस की रितु आई
झरने चले नदी से मिलने, ले यौवन के उन्माद घने
मेरे उन्माद भरे उर मे पिछली पावस की रितु आई !

(१३)

याद हैं तुम्हें न? मित्र! उस दिन के बादल !

लेटे थे गिरि ऊपर हम कोमल दूब पर,
फिरते थे इधर उधर शैलों पर नीर–धर,
करते कुछ परामर्श, आपस मे सूर्य्य को,
देख-देख शिखरों पर आ-आ एकत्र हो,
होती थीं नील-नील शैलों की श्रेणियाँ,
जिन को थी डरा रही, फट-फट कर बिजलियाँ,
सहसा तूफान चला, बन-बन चिल्लाये,
अम्बर मे शब्द हुए, भूधर थर्राये
दौड़े घनघोर मेघ हाथों में वज्र ले,
आहत हो सूर्य्य कहाँ जाने जाकर छिपे,
फैला घन अन्धकार, टूटी दारुण झडी,
मिट्टी छिद धूम-राशि, बन कर ऊपर उड़ी.
देख हमे दौड रहे, ढालों पर पवन मे,
'पकड़ो' कह कडकी थी बिजली तन गगन मे,
याद हैं तुम्हें न? मित्र! हम मदिर में आए,
मेघ-रोष-भूल हम घर थे जब आए,
कोसा था माँ ने फिर आँखें कर के सजल,
याद है तुम्हे न? मित्र! उस दिन के बादल?

(१४)

गिरि पर घन आए देवदार हरषाए,
ये काजल के बादल गिरि पर झुक आए!
हर्ष-तरगें उठतीं, घनी घटा अब घिरती,

देख सघन अँधियाली, डरती फूली डाली !
इन कम्पित अधरों पर, गीत पुराने आए,
ये काजल के बादल गिरि पर झुक आए !

(१५)

ये बादल हम थोड़ी देर बरस जाने दें,
क्षणिक वेग में भूली हवा निकल जाने दें,
कुछ तरु जो बन गये हैं भादों घन-से,
उन के भी पाए जल विन्दु टपक जाने दें,
होने दे सुनील औ सुन्दर यह सुखद गगन,
लटकी घास, पवन-गति से हँसती न काँपती,
भीगी केश-राशि-सी, उसके स्पर्श न जानती,
घन गर्जन से डरी पड़ी धरती के उर पर,
जल की अविरल ध्वनि से उठती न जागती,
किरणों से उठती लख लें हम उसे काँपती।
जब सहसा थम जाता है वर्षा का नर्तन,
चित्र लिखित-सी रह जाती है लखती चितवन,
जब छिप जातीं जल परियाँ, गा आधा गायन,
वह शोभा आँखों मे आती इन्द्र धनुष बन-बन,
उसे देख कर सफल करें हम अपने लोचन।
अपनी जन्म भूमि मे लख कर अन्तिम वर्षण,
ले जाना तुम मुझे जहाँ चाहो जीवन-धन।
ये अध बरसे मेघ न घूमेंगे नयनों मे,

काँप न पावेगा मेरे उर में दल कपन,
यदि जावेंगे हम लख कर यह अन्तिम वर्षण !

(१६)

सारे सतप्त-हृदय शीतल आ गया लौट रस-मय सावन।
गीतों से झूल रहा बन-तल, नृत्यों से नाच रहा उपवन,
मंगल गीतों को गाती यह, बहती है अविरल जल-धारा,
मेरे कुसुमो मे होता था, प्रमुदित अलियों का नव गुंजन,
इस महाकार नभ मे कैसे, जलती ज्वाला का वर्षण!

(१७)

गरजो बरसो रिमझिम ! रिमझिम !
इस अथाह मानस—अबुधि मे
शिथिल हुए कर, चलना दूभर,
नाव न खे सकती प्रिय ! पल भर,
निश्चय ही अब मै डूबूँगी,
इस अथाह मानस—अम्बुध मे !
मरण सत्य् है बरसो प्रिय घन !
तुम्ही काट दो जीवन बन्धन,
निज आँसू से नाव डुबा दो,
इस अथाह मानस—अम्बुधि में !
बूँद सदृश तरणी लय करना,
शुभ है तेरे कर से मिटना,
शुभ्र मार्ग प्रिय देख देख कर,

इस अथाह मानस अम्बुधि में !

मानो बरसाओ आँसू कण,

वारि मग्न कर दो यह जीवन,

अपने अन्तिम स्वच्छ रूप मे,

लय कर दो यह तरणी—जीवन !

गरजो-बरसो, रिमझिम ! रिमझिम !

इस अथाह मानस—अम्बुधि मे !

(१८)

साध्य कालिमा रिमझिम! रिमझिम! करते घन भैरव गर्जन !
सुन पड़ता है आज प्रवासी प्रेयसि का नूपर गुंजन !
चलती सध्या के अ चल में गो-धूली—सी मलिना,
उत्सुक कर्णों मे गाती वह मुखरा नूपर रसना,
चितवन के सर सिहर—सिहर कर तम के अन्तस्तल पर
चला रही नव युवती चपला द्रुत, गिरि पर हँस कर !

(१६)

झर रहे होंगे वहाँ भी, ये उमड़ते मेघ लोचन !

घूमते बन पर्वतों पर विरह से अश्रान्त जल--धर !

कर रहे होंगे वहाँ भी ये धरा मे पीर सिचन ?

झर रहे होंगे वहाँ भी ये उमड़ते मेघ लोचन !

देख सावन श्याम नभ में एक यौवन विस्फुरण,

फैलती होगी प्रवालों में वहाँ भी एक सिहरन !

जब सजल बहता समीरण, कर बनों में मंद विचरण,

काँपती होगी वहाँ भी बल्लरी क्या चकित लोचन !
झुक गई गई घन मेघ-छाया, मूँदने गिरि के नयन,
बन गये पथ सब अपरिचित वाटिका कानन सघन !
कर रहा दयनीय मुझ को यह निशा का स्नेह वर्षण,
झर रहे होगे वहाँ भी ये उमड़ते मेघ लोचन !
आज इन भीगे दृगा से चू रही है बूँद जैसी,
चू रही होगी वहाँ भी क्या लटों से बूँद ऐसी ?
धो रहे होगे वहाँ भी वारि-कण क्या कुसुम आनन?
झर रहे होंगे वहाँ भी ये उमड़ते मेघ लोचन ?
खो गई निश्वास मेरी आज के आकुल पवन मे,
खोजते है ये विकल दृग छिद्र इस काले गगन मे,
झर रहे हैं किन्तु तरु के पत्र गृह में श्याम घन,
आज तरु तरु बन सजल घन कर रहे है वारि वर्पण!
बढ़ चली सरिता हृदय की, किस उदधि की ओर पर?
गिर पड़े दारुण शिला पर ये उमड़ते मेघ निर्झर !
आज मन की क्या दशा तुमको सुनाऊँ राज रानी,
झर रहे है मेघ निर्झर इस हृदय की बन कहानी !
मै पपीहा बन कहीं उड आज जो पाता गगन में,
बैठता मै उस झरोखे पर प्रिया पावन सदन मे,
कूकता मै 'पी कहाँ!' 'विधुरा कहाँ तुम हे प्रिये!'
पढ रही हो पत्र प्रिय का स्नेह दीपक को लिये ?
सुन सकोगी क्यों प्रिये ! तुम इन घनों के घोर गर्जन!

जो कँपा देते हृदय, बन सर्पिणी के तीक्ष्ण दशन !
मै पपीहा बन यहाँ आया तुम्हारे द्वार जीवन,
झर रहे होंगे वहाँ भी ये उमडते मेघ लोचन !

(२०)

घिर आये कैसे मेघ सजल, कहते ही कहते नयनो में !

(२१)

सत्य प्रेम यदि होगा मेरा, तुम विदेशिनी लौटोगी।
तुम मेरे बचपन की पवित्रता-सी फिर मुझे मिलोगी !

(२२)

आज कोलाहल विपिन में, आज जन पद शान्त !
लोचनो में आज घन जल, हृदय में आनंद,
आज गृह के पास बजती
किस तरुण अनुरागिणी की किंकिणी मृदु मन्द ?
आज भैरव रव गगन में, कुञ्ज में मल्लार,
बरसता आवेश झर-झर, फैलता है प्यार !
आज सावन है धरा में, आज हरियाली अनन्त
किन्तु इस पुलकित हृदय में
प्रेम के इस प्रिय निलय मे, हँस रहा लज्जित वसन्त!

(२३)

जुगुनुओं से घिरी मेघों से भरी,
देखती सम रूप मेंढक मोर को,
आ गई बरसात आँखों के लिए,

(५१)

ला गगन से भूमि पर शोभा हरी!
झुक गई गिरि के पदो तक घन घटा,
नील नभ मे उड गई विद्युतछटा!
झम झमाती भूमि पर है गिर रही,
मोतियों की लड़ी-सी जल की झड़ी,
बोलता तीतर, सुरग-ग्रीवा उठा,
रही झिल्ली गीत की सपति लुटा!
नाचते है मोर—मेढक पास ही,
दिखाते है चाल अपनी इकहरी!
वह गिराती वज्र को है, फूल को,
वह खिलाती डालियो पर सदय हो!
कभी काले बादलो मे चीखती,
कभी छाया मे बजाती वशरी!
एक-सा करती सदा निशि-भोर को,
लुप्त करती धरा--नभ के छोर को,
वृद्धि देती विश्व में वह चर अचर को,
आ गई वह रितु-प्रिया परमेश्वरी!

(७४)

पावस का मास लगा सावन सुखदायी,
धरती ढकती अनन्त हरियाली छाई
घूमी घनघोर गगन में काली बदली,
प्रिय ने हो निष्ठुर सखी! सुध-बुध बिसराई!

(२५)

वर्षा के दिन उठी गगन में सजल घटा प्यारी-प्यारी,
अमराई में छाई कोमल नीली-पीली अँधियारी !
सुन घन गर्जन लिपट गई वह हँस कर सखियोंसे प्यारी,
और सड़क में कूका कोई-'हर मन तोता रे हारी !'
हँसो सुनहली बिजली सहसा टूटी मोती धाराएँ,
छूटी वर्षा दिशा-दिशा मे, तोड मनोहर काराएँ.
डूबी उतराई धरती ज्यो मणियों की नैय्या भारी,
चला गया कोई गा-गा कर-'हर मन तोता रे हारी!'
खुले केश थे उस गायक के, फैली थीं उस की बाहे,
उठी सजल आँखे, उडते थे स्वस्त बसन दाएँ बाएँ !
तरुण पपीहा-सा वह उठती थी उर से वाणी प्यारी,
"आए बादल गरजे बरसे हर मन तोता रे हारी !"
बढ़ता था सूनी सड़को पर छल-बल, छल-बल कर पानी,
बरस रही थी तर्जन गर्जन कर मेघ-वनों की रानी,
जाने कहाँ खो गया वर्षा में वह उन्मन तरुण भिखारी,
गाता घनी घटा के नीचे 'हरमन तोता रे हारी !'

मेघों की झड़ी मीरा जब अपने प्रिय की प्राप्ति कर लेती है तब उसे बाहर बरसने वाले मेघों की चिन्ता भी नहीं रह जाती। वह आनद की धार मे डूब जाती है। पपीहा चन्द्र कुँवर के लिए प्रेम निलय पुलकित हृदय मे 'वर्षा के मेघ' पतझड और बसत दोनो एक साथ ही बन जाते है, मदाकिनी मे वरुण की प्रणय लीला बराबर चलती

रहती, उसी के निर्झर उन के वर्षा गीत है।

चन्द्र कुँवर के इन वर्षा गीतो मे परपरानुमोदित उद्दीपन प्रमुखता कही नही आती। यद्यपि उद्दीपन का काम वे करते है किन्तु अपनी स्वाभाविकता, अपनी सजीवता, अपनी रमणीय सुन्दरता को कभी भी मद नही होने देते। इन मे तन्मयता का सगीत, सवेदन-शीलता की तीव्रता और चित्रो की स्पष्टता के साथ, नृत्य करता है। वर्षा अपने शुद्ध रूप मे चन्द्रकुँवरमे और किसी सीमा तक सुमित्रानन्दन पत मे मिलती है। निराला,प्रसाद,महादेवी,गुरु भक्त सिंह, मनोहर शर्मा, डाक्टर विनी मे उस का स्वरूप निखरा हुआ है किन्तु अन्य भावना तरगो का सम्मिश्रण भी उस मे उतना ही प्रधान है जितना वर्षा सबधी भावनाओ का और कभी कभी अन्य भावनाएँ प्रधान हो जाती है, वर्षा-सबधी भावनाएँ गौण।

वेदना की दृष्टि से विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर,तुलसी 'गीतावली के तुलसी, घनानद, प्रसाद, महादेवी और जगीदश प्रसाद गुप्त 'विश्व' के वर्षा गीत अधिक सुन्दर है—

सूर भयो ससि, लाज सौ धूप हुँ चाँदनी की अनुगामिनी ह्वै गई,
पीर उठी बदरीन के बेस मै द्यौस के देस मै जामिनी ह्वै गई,
त्यौं तम-पुंज के प्रानन मैं परी लीक प्रकाश की स्वामिनी ह्वै गई,
ऐसी बयारि बही बरसात मा मेघ की आतमा दामिनी ह्वै गई,

(जगदीश प्रसाद गुप्त 'विश्व')

इस मरण के पर्व को मैं आज दीपाली बना लूँ।
देख कर कोमल व्यथा को आँसुओं के सजल रथ मे

मोम की साधें बिछा दी थी इसी अ गार पथ में
स्वर्ण हैं वे मत कहो अब क्षार में उन को सुना लूँ ।

(महादेवी वर्मा—दीपशिखा)

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब ।
सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब ?
बरस पड़े क्यो आज अचानक, सरसिज कानन का सकोच ?
अरे जलद मे भी ज्वाला ? झुके हुए क्यों किस का सोच ?
किस निष्ठुर ठडे हृत्तल मे जमे रहे तुम वर्फ समान ?
पिघल रहे हो किस गर्मी से हे करुणा के जीवन प्राण ?
चपला की व्याकुलता ले कर चातक का ले करुण विलाप,
तारा आँसू पोंछ गगन के रोते हो किस दुख से आप ?
किस मानस निधि मे न बुझा था बढ़वानल जिस ने बन भाप
प्रणय-प्रभाकर से चढ़ कर इस अनंत का करने माप,
क्यों जुगनू का दीप जला है, पथ मे पुष्प और आलोक ?
किस समाधि पर बरसे आँसू ? किस का है यह शीतल शोक ?
थके प्रवासी बनजारों से लौटे हो मंथर गति से !
किस अतीत की प्रणय पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से ?

जयशकर 'प्रसाद'

(१)

पर काजहि देह को धारि फिरौ परजन्य जथा रथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा की समान करौ, सब ही विधि-सज्जनता सरसौ।
घनआँनँद जीवन दायक हौ कछु मेरियौ पीर हिएँ परसौ।

कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो असुवानिहि लै बरसौ।

(२)

घन आँनद जीवन मूल सुजान की कौधन हूँ न कहूँ दरसै।
सु न जानिए धौ कित छाय रहे, दृग चातिक प्रान तपे तरसैं।
बिन पावस तो इन्हे थ्यावस हो न सु क्यो करि ये अब सो परसै।
बदरा बरसैं रितु मै घिरि कै नितही अँखिया उघरी बरसैं।

(घनानद)

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा रितु प्रवेश विसेष गिरि देखन मन अनुरागत।
चहुँ दिसि बन सपन्न, विहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सु नरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मधु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अभोज विराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि।
सिखर परस घन घटहिँ, मिलति बग-पाँति सो छवि कवि बरनी,
आदि बराह विहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जल जुत विमल सिलनि झलकत नभ, बन-प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जग रचना विचित्र विलसति विराट अँग अँग।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि-झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे।

(तुलसीदास)

(१)

आजु घनस्याम की उनहारि।

उनै आए साँवरे ! लेहु रूप निहारि !
इन्द्र धनुष मनो पीत बसन छबि दामिनि दसन विचारि।
जनु बग पाँति माल मोतिन की चितवत चित लेत है हारि।
गरजत गगन गिरा गोविन्द की सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के विकल भई ब्रज नारि।

(२)

बरु ये बदराऊ बरषन आए !
अपनी अवधि जानि नँद नंदन ! गरजि गगन घन छाए !
सुनियत है सुरलोक बसत हैं सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कै जहँ-तहँ ते उठि धाए।
द्रुम किए हरित, हरिष मिला बल्ली, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निविड़ नीड़ तृन जहँ तहँ पंछिन हूँ कहँ भाए।
समुझत नहि सखि चूक आपनी बहुते दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुबन बसि बिसराए !

(३)

निसि-दिन बरसत नैन हमारे !
सदा रहत वर्षा रितु हम पर जब ते स्याम सिधारे।
नैन न अंजन रहत निसि बासर, कर-कपोल भये कारे !
अंचल पट सूखत नहि कबहूँ उर बिच बहत पनारे।
ऐसे सिथिल सबै भई काया, पल न जात रस टारे।
सूरदास प्रभु गोकुल बूड़त काहे न लेत उबारे !

(४)

सखी, इन नैनन तें घन हारे !
बिनु ही रितु बरसत निसि बासर, सदा सजल दोउ तारे।
ऊरध-साँस समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
वदन-सदन मे बसे बचन खग, रितु पावस के मारे।
ढरि-ढरि बूँद परत कचुकि पर, मिलि अ जन सो कारे।
मानहु सिव की पर्न कुटी विच धारा स्याम निनारे।
सुमिरि-सुमिरि गरजत, अरु छाँड़त अस्सु सलिल बहु धारे
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै, बिनु गिरिवर धर धारे।

(५)

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी,
कैसे रहैं रूप-रस-राँची, ए बतियाँ सुनि रूखी।
अवधि-गनत, इकटक मग जोवत, तब एती नहि झूखी ।
अब इन जोग सँदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी !
बारक वहि मुख फेरि दिखावहु, दुहि पय पियत पतूखी।
सूर सिकत हठि नाव चलावहु, ए सरिता है सूखी !

(६)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो !
प्रीति पतग करी दीपक सौ, आपै प्राण दह्यौ।
अलि सुत प्रीति करी जल-सुत सौ, सम्पति हाथ गह्यौ।
सारँग प्रीति करी जो नाद सौ, सन्मुख बान सह्यौ।
हम जो प्रीति करी माधौ सौ, चलत न कछू कह्यौ।

सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो, नैननि नीर बह्यौ।

(७)

मधुकर इतनी कहियहु जाइ।
अति कृस गात भई ए तुम बिनु, परम दुखारी गाइ।
जल समूह बरसति दोउ आँखिन हूँकति लीन्हे नाउँ।
जहाँ तहा गो दोहन कीन्हौ, सूँघत सोई ठाउँ।
परति पिछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं, वारि मध्य तें मीन।

सूरदास

(१)

मतवारो बादल आयो रे, हरि को सँदेसो कछु नहि लायो रे।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल सबद सुनायो रे।
कारी अँधियाली बिजुली चमके, विरहिन अति डरपायो रे।
गाजे बाजे पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लायो रे।
फूँके नाग विरह की जारी, मीरा मन हरि भायो रे।

(२)

बादल देख झरी हो स्याम, मै बादल देख झरी।
काली-पीली घटा उमंगी, बरस्यो एक घरी।
जित जाऊँ तित पानिहि पानी हुई सब भोम हरी।
जा का पिव परदेस बसत है, भीजै बार खरी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, कीज्यो प्रीत खरी!

(३)

सावन दे रह्यो जोरा रे, घर आओ जो स्याम मोरा रे।
उमड घुमड चहुँ दिसि से आयो, गरजत है घन घोरा रे।
दादुर मोर पपीहा बोला, कोयल कर रही सोरा रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, ज्यो वारूँ सो ही थोरा रे।

(४)

नँद-नन्दन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई!
इत घन गरजे, उत घन गरजे, चमकत विज्जु सवाई,
उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, पवन चले पुरवाई,
दादुर मोर, पपीहा बोले, कोयल सब्द सुनाई,
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल चितलाई,

(५)

सुनी हो मै हरि आवन की आवाज!
म्हेलाँ चढ़ चढ़ जोऊँ मेरी सजनी, कब आवैं महाराज,
दादुर, मोर, पपइय्या बोले, कोइल मधुरे साज।
उमग्यो इन्द्र चहूँ दिस बरसै, दामिन छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलन कै काज।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बेग मिलो महाराज,

(६)

रितु आई बोलत मोरा, स्याम बिना जिया घोरा।
उमड घुमड़ के आई बदरिया, बरस रह्यो घन घोरा।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल कर रहि सोरा।

है को साध-स देसा लावै, स्याम मिलावै मोरा।
मीरा के प्रभु-गिरधर नागर, स्याम चरण चितचोरा।

(७)

पपइय्या रे पलक लगन दे मोर।
जो कोई सुनि पावै विरहिनी, प्यारे डारेगी पंख मरोर।
या दामिनि बैरिन भई है मोकों, कोईल कर रही सोर
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, मै दुखियारी सजोर।

(८)

पपय्या रे कूकत हो दिन रैन।
मै कूकत हौ मेरा पिया जु कारन, कल न परत नहि चेन,
रे पपीहा तू काहे कूकत, क्यूँ लागो दुख दैन ?
मै दुखिया विरह की जारी, जरत देत क्यूँ लून ?
मीरा के प्रभु पिया के मिलन की, आन कहै कोई बैन।

(९)

रे पपइय्या प्यारे। कब को बैर चितारो ?
मै सूती छी अपने भवन में, पिय-पिय करत पुकार।
दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़े करबत सारो।
उठि बैठो वृच्छ की डाली, बोल-बोल कंठ सारो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरनाँ चित धारो।

(१०)

पपइय्या रे पिय की वाणि न बोल।
सूण पावेली विरहणी, थाड़ो रालैली पाँख मरोड़।

चाँच कटाऊँ पपइय्या रे, ऊपरि कालर लूण,
पिव मोरा मै पीव की रे, तू पिव कहै स कूण ?
थारा सबद सुहावणो रे, जो पिव मेला आज,
चाँच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज ।
प्रीतम की पतियाँ लिखूँ कउवा तू ले जाइ,
जाइ प्रीतमजी सूँ यूँ कहै रे,थारी विरहण नाज न खाय ।
मीरा दासी व्याकुली रे, पिव-पिव करत बिहाइ,
बेगि मिलो प्रभु अन्तरजामी, तुम बिन रह्यो न जाइ ।

(११)

मेहा बरसबो करे रे, आज तो रमियो मेरे घरे रे ।
नन्ही नन्ही बूँदन मेघ घन बरसे,सूखे सरवर भरे रे ।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो, बिछुरन की मोहि डर रे ।
मीरा कहे अति नेह जुड़ायो, मै लियो पुरबलो बर रे ।

(१२)

देखी बरसा की सरसाई, मोरे प्रिया जी की मन में आई ।
नन्ही-नन्ही बूंदन बरसन लाग्यो,दामिनि दमक रहे भर लाई।
स्याम घटा उमड़ी चहुँ दिसि से, बोलत मोर सुहाई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आँनँद मगल गाई ।

(१३)

बरसे बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की ।
सावन मे उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की ।
उमड घुमड़ चहुँ दिशि से आयो,दामिनि दमके भर लावन की,

नन्ही नन्ही बूँदन मेहा बरसे. सीतल पवन सोहावन की,
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आँनँद मगल गावन की।

(१४)

बदरा रे तू जल भरि लायो।

छोटी-छोटी बूँदन बरसन लागी, कोयल शब्द सुनायो,
गाजै बाजैं पवन मधुरिया, अम्बर बदरा छायो।
सेज सॅवारी पिय घर आये, हिल मिल मगल गायो,
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, भाग भलो जिन पायो।

(मीरा)

ऋतु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादौ अधिक सोहावा॥
पद्मावति चाहति ऋतु पाई। गगन सोहावन, भूमि सोहाई॥
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी। धनि निसरीं जनु वीरबहूटी॥
चमक बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर शब्द सुठि लोना॥
रंगराती प्रीतम सँग जागो। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥
सीतल बूँद ऊँच चोपारा। हरियर सब देखाइ ससारा॥
हरियर भूमि कुसुम्भी चोला। औ धनि पिउ सँग रचा हिंडोला॥
पवन झकोरे होइ हरष, लागे सीतल वास।
धनि जानै यह पवन है, पवन, सो अपने दास॥

(जायसी)

(१)

गगन-गरजि बरसे अमी बादल गहिर गभीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी, भीजे दास कबीर॥

(२)

गगन घटा घहरानी, साधो, गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेड़ सम्हारो, बह्यो जात यह पानी।
मन कै बैल, सुरत हरवाहा जोत खेत निरवानी।
दुविधा दूब छोल करु बाहर, बोव नाम की धानी।
जोग जुगति करि कर रखवाली चर न जाय मृग धानी।
बाली झार कूट घर लावै सोई कुसल किसानी।
पाँच सखी मिल कीन रसोइया एक से एक सयानी।
दूनो थार बराबर परसे जेवै मुनि अर ज्ञानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो यह पद है निरवानी।
जो या पद को परिचै पावै ता को नाम विज्ञानी।

(कबीर)

सखि हे हमर दुखक नहि ओर।
इभर बादर माह भादर, सून मन्दिर मोर।
झपि घन गरजति सतत भुवन भरि बरसतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन सघन खर सर हतिया।
कुलिस कत सत पात, मुदित मयूर नाचत मातिया।
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि, अथिर विजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमावोब हरि विना दिन सतियाँ।

(विद्यापति)

अलंकार चमत्कार की दृष्टि से सेनापति, केशव और भूषण के वर्षा

दूरि करी सुख मुख सुषमा ससी की नैन
अमल कमल-दल दलित निकाई है
केसोदास प्रबल करेनुका-गमनहर
मुकुत सुहंमक-सबद सुखदाई है
अम्बर बलित मति मोहै नीलकंठ जू की
कालिका कि बरखा हरषि हिय आई है ?
(केशवदास)

बद्दल न होंहि, दल दच्छिन घमंड माँहि,
घटा ये न होहि दल, सिवाजी हँकारी के,
दामिनी दमक नाहि, खुले खग्ग बीरन के
बीरन सिर छापु लखु तीजा असवारी के,
देखि-देखि मुगलों की हरमै भवन त्यागैं,
उझकि उझकि उठें बहत बयारी के,
दिल्लीपति भूल मति, गाजत न घोर घन,
बाजत नगारे ये सितारे गढ़-धारी के !

आनन्द की दृष्टि से रामतीर्थ के गीतों को हम नहीं भूल सकते। यद्यपि रामतीर्थ मुख्य रूप से अद्वैत वेदान्त के सौन्दर्य प्रेमी दार्शनिक थे किन्तु उन्होंने कवि हृदय भी पाया था। रामतीर्थ (जन्म २२ अक्टूबर १८७३ई० मृत्यु १७अक्टूबर-१६०६ई०) के लिए असीम सौन्दर्य के द्वार खुल चुके थे। परमात्मा की विभूति उन्हे सर्वत्र अपनी सुन्दरता को दिखा आनन्द मग्न कर देती थी उन्हे बादल की साडी मे चाँदनी की कनारी नजर आती थी, नदी-तीर की दूब पर तरगों से उछाली मोती

जैसी बूँदों को पडते देख उनकी भावुकता विछौने की चादर पर मोतियों का पिरौना देखती थी। चाँदनी की छटा को वे प्रकृति सुन्दरी की ओढनी मानते थे। तारों भरे आकाश को देख वे मोतियों के थाल को सिर पर धरे, प्रकृति सुन्दरी का नृत्य देखने लगते। प्रकृति के विचित्र सुन्दर दृश्यों को देख कर वे मस्ती से झूम उठते थे—

(१)

मेह बरसा मोतियों का,

तूफान आँसुओं का झिम! झिम!! झिम!!!

(२)

ठडक भरी है दिल मे आनन्द बह रहा

अमृत बरस रहा है,झिम-झिम! झिम-झिम!

(३)

रात का वक्त है बियाबाँ है, खुश बजा पर्वतो मे मैदाँ है।

आस्माँ का बताएँ क्या हाल, मोतियों से भरा हुआ है थाल।

चाँद है मोतियों मे लाल धरा, अब्र है थाल पर रूमाल पडा।

सर पर अपने उठा के ऐसा थाल,रक्स करती है नेचरे खुशहाल।

(४)

अजब लुत्फ है कोह पर चाँदनी का,

यह नेचर ने ओढा है जाली दुपट्टा!

दिखाता है आधा, छिपाता है आधा,

दुपट्टे ने जोबन किया है दो बाला!

नशे मे जवानी के माशूके नेचर,

है लिपटी हुई राम मे मस्त होकर!

(५)

यह पर्वत की छाती पै बादल का फिरना,

वह दम भर मे अब्रो से पर्वत का घिरना,

गरजना, चमकना, कडकना, निखरना,

छमाछम, छमाछम ये बूँदो का गिरना।

अरूसे* फलक का, वह हसना, यह रोना,

मेरे ही लिए है फकत जान खोना।

(६)

मै सैर करने निकला, ओढ़े अबर की चादर।

पर्वत मे चल रहा था, हवा के बाजुओ पर।

मतवाला झूमता था हर तरफ घूमता था,

झरने नदी ओ नाले पहचान कर पुकारे

(७)

पहाडो का यों लम्बी ताने यह सोना,

वह गुंजॉ दरख्तो का दोशाला होना,

वह दामन मे सब्जे का मखमल बिछोना,

नदी का बिछौने की झालर पिरोना,

यह राहत मुजस्सिम, यह आराम मै हूँ,

कहाँ कोहो दरिया यहाँ मै ही मै हूँ।

(८)

यह सैर क्या है अजब अनोखा, कि राम मुझ मे मै राम मे हूँ

---

* दिवि—वधू

बगैर सूरत अजब है जलवा, कि राम मुझ में मैं राम मे हूँ,
मुकाम पूछो तो ला मकां था, न राम ही था न मैं वहाँ था,
लिया जो करवट तो होश आया कि राम मुझ मे मैं राम में हूँ,

(६)

क्या खूब था तमाशा, यह ख्वाब कैसा आया,
बन बन में राम ढूँढा, मैं राम खुद बन आया।

(११)

ऐ लोगो तुम को क्या हुआ है जो हिलते जरा नही ?
क्या तुम ने लाल कुरती को देखा कभी नही?

(११)

न तुझ से है मतलब न सूरत से तेरी,
मुसव्वर की हम तो कलम देखते हैं,

(१२)

अलविदा, मेरी रियाजी[1] ! अलविदा !
अलविदा, ऐ प्यारी रावी अलविदा !
अलविदा ऐ अहले खाना![2] अलविदा !
अलविदा मासूमे नादाँ अलविदा !
अलविदा ऐ दोस्तो दुश्मन' अलविदा !
अलविदा ऐ शीतो ऊशन अलविदा !
अलविदा ऐ कुतबो[3] तद्रीसे! अलविदा !
अलविदा ऐ खुस्सो-तकसीदे[4] अलविदा !

१--गणित २--घर के लोगो ३--पोथी-पढ़ाई ४--बुरा-भला, स्तुति-निंदा

अलविदा ऐ दिल ! खुदा ! ले अजबिदा !

अलविदा गम, अलविदा ऐ अलविदा !

रामतीर्थ की भाँति लाल कुर्ती पहिन कर जग के बीच चन्द्रकुँवर नहीं घूमे किन्तु यातनाओं ने उन्हे प्रकाश का वह देश अवश्य दिखा दिया जहाँ तिमिर के तल मे उज्वल मोती हँसते है जहाँ स्तुति निदा की चिन्ता नहीं रह जाती, जहाँ सभी दिशाएँ मित्र हो जाती है जहाँ जीवन-वन मे, पवन मे ईश्वर का पवित्र नाम सुनाई देता है, जहाँ कोई भी शत्रु नहीं रह जाता सभी दिशाएँ मित्र हो जाती है और कवि प्रसन्न हो कर कह सका--'बसन गेरुवा, इस से अच्छा साज न कोई, सभी दिशाऐं मित्र शत्रु है आज न कोई ।'

शरद रितु के उस भाव लोक मे भावनाओं की रितु प्रिया परमेश्वरी को जी भर कर प्यार कर ही कवि पहुँच सका। मीरा भी उस स्थिति में मेघ की झड़ी बन कर पहुच पायी। मीरा और चन्द्रकुँवर के सर्वाति सुन्दरगीत मेघ मुक्ताओं के ही गीत है। सयोग से चन्द्रकुँवर की तो जीवन मृत्यु की रितु वर्षा ही है उनका जन्म पाँच भादों उन्नीस सौ छहत्तर विक्रमीय को बृहस्पतिवार के दिन हुआ था उनकी मृत्यु उनतीस भादों रविवार दो हजार चार विक्रमीय को हुई। चन्द्रकुँवर ने यद्यपि सभी रितुओं को अपनाया है और यह भी कहा है 'जगती मे आती कितनी रितुएँ पर मधु रितु-सी और नहीं, किन्तु उनके जीवन काव्य मे 'रितु प्रिया परमेश्वरी' वर्षा रितु ही बन पाई, माँ के रूप मे वे उसी का अभिनन्दन वे कर सके—

(१)

प्राण प्रफुल्लित कर दो मधुर चुम्बनम,
झमक बरस दी आँदो मेघ मंद्र गाँदो,
वर्षा मनोहारिणी दातु नव जीवनम।

(२)

कितने प्रवास पश्चात् घिरे आज फिर ये सजल श्याम घन!
कितने दिन बाद भरे माँ के ये क्षीर नीर से भरे स्तन!
भोली इस धरणी बाला की आँखें गद्गद् भर आई हैं।
कितने प्रवास पश्चात् आज वर्षा माँ नभ मे आई हैं।
बहती व्याकुल हो स्नेह-स्वास, उर-स्पदन खग करते स्वागत,
उमडी माँ आ ओ दिशि-दिशि से, चरणों मे करती शीशानत!
तुम पाप बहाने जग का, करुणा ले आई बिछुड़ी माँ!
उर धड़कन द्रुत बढ़ती जाती छूने वह पूत चरण माँ।
धो देंगे मेरे कलुष आज ये स्नेह-वारि से भरे नयन,
उड जावेंगे मृदु कुसुम वहीं पावन उड जावे जहाँ चरण,
धुँधली आँखो से अभिनन्दन, करती आओ अमृत वर्षण,
आओ आओ हे पयोधरा, आओ करती रिमझिम, रिमझिम!!

हिन्दी के कवियों के वर्षा गीतों मे एक प्रकार की परपरागत प्रणाली ही की प्रधानता रही है, चन्द्रकुँवर के वर्षा गीत, निराला के 'गरज गरज रे बादल' अथवा 'झूम झूम मृदु गरज गरज घन घोर' के बादल राग से भिन्न, चन्द्रकुँवर के मेघों का राग है उसमें मेघदूत और श्यैले के क्लाउड की छायाओं मे बने 'सुरपति के

अनुचर' बादल की निष्प्राणता नही है न भोले बालक के काले बादल का कालापन ही। उसके प्राणो मे वैदिक कवि का उल्लास, वाल्मीकि—'मुक्ता सकाश सलिल पतद्वै सुनिर्मल पत्र पुटेषुलग्नम्। हृष्टा विवर्णच्छदना विहगा सुरेन्द्र दत्त तृषिता पिवन्ति'-वाले वाल्मीके की सरल स्वच्छ धारा-वाहिकता, 'नव सलिल निषेक-च्छिन्नतापो बनान्त' तथा आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्ट सानु" वाले कालिदास की सरसता, 'तिमिर दिग भर घोरयामिनि अथिर बिजु-रिक पाँतिया', वाले विद्यापति को धडकन कपन, 'गगन गरजि बरसे अमी', वाले कबीर की आनदानुभूति, 'पवन झकोरे होइ हरष, लागे शीतल बास' वाले जायसो की तरलता, मीरा का पपीहापन, सूर की व्यजना गीतावली के चित्रकूट प्रेमी तुलसी की सुसबद्धता, घनानद की तीव्रता, सेनापति और केशव की विस्मय विमुग्ध कारी प्रतिभा, प्रसाद की भावचित्र-साकारता और महादेवी की सजलता, डाक्टर विनी की ममता, माता की करुणा, अपने हृदय की सजीवता, और हिमवन्त की सुन्दरता, सब एक साथ है। चन्द्रकुवर की-सी विराट् चेतना के, किसी भी अन्य हिंदी प्रेमी साहित्यिक मे दर्शन हुए—है तो डाक्टर विनी और कुसमपाल के साहित्य मे। कुसुमपाल की 'चन्द्रकुँवर जीवन झर-मर्र सौदर्य प्रेमी हृदय की स्नेह कुसुमाञ्जलि है। डाक्टर विनी की सुन्दरतम रचनाओं'—हिमशृगा को ओर, विनय, फूलो का उपहार, 'सूरदास'आदि मे ही अब तक चन्द्र कुवर की उस सवेदनशीलता के दर्शन हो पाये है जिस पर सम्पूर्ण विश्व की सुन्दरता न्योछावर की जा सकती है।

जीवन-सुन्दरता

चन्द्र कुँवर मदाकिनी, हिम-ज्योत्स्ना की धार,
विकल वेदना वाँसुरी, बहती शान्ति अपार।

जीवन और सृष्टि का आरभ कब हुआ, कब उस का अत होगा, क्या उस का लक्ष्य है, इन प्रश्नो का कोई भी एक सतोषजनक उत्तर नही दिया जा सकता। किन्तु जाने या अनजाने जीवन और सृष्टि दोनों की धारा निरतर आगे बढती रहती है। देश, काल और परिस्थितियों की शाश्वत धाराओं से मिल कर जीवन और साहित्य की धाराएँ भी इस सृष्टि के साथ निरतर आगे बढती रहती हैं। किसी को भी एक क्षण के लिए विराम नहीं।

अनंत से प्रकट हो कर सृष्टि जिस दिन बाहर निकल पडी अधकार की गुफा से जीवन तीर की तरह छूट पडा उसी दिन से वे दोनों बराबर किसी खोज मे विकल है। अपनी व्याकुलता मिटाने के लिए अविराम गति से अतहीन पथ पर चल रहे हैं। सारी प्रकृति क्षण-क्षण नव परिवर्तन दिखलाती जाती है।

प्रत्येक वस्तु जाने या अनजाने एक ही कहानी कह रही है। अमोल चाँदनी अपने आप आकर भूमडल मे व्याप्त हो जाती है। कभी बादलो मे चुपचाप तैरने लगती है, और कभी अर्द्ध रात्रि के प्रसुप्त मौन को भेद कर पेडों के पर्वताकार कुजों पर चुपचाप निश्चल

बैठ जाती है। कभी नवनीत कोमल फेन पर अपने विम्ब से खेलती है। कभी उड कर पर्वतों पर पहुँच जाती है। पर्वत उस मे डूब जाते है। पृथ्वी की सभी वस्तुएं सुन्दर हो जाती है। मन अपनी परिस्थितियों को अनप्राणित करने वाले वायु मडल से ऊपर उठ जाता है। पृथ्वी पर चॉदनी के बादलों की सरसता बरसती है। झिलमिलाती हवा चलती है। कुमुदिनी और रजनी गधा पुलकित सॉस भरने लगती है। सधा के स्वर पृथ्वी पर फैल जाते है और चॉदनी, सुख को पख लगा देती है।

ज्योत्स्ना मे चमकती हुई नदियॉ दौडती हुई किसी ओर चली जाती है लहरें तट के चट्टानों से आहत हो कर, विखरती हुई ऊपर को उठती है, किसी से अपनी व्यथा कहने के लिए-सी। दूसरे ही क्षण एक मित्र लहर, उस आहता को अपनी बॉहों मे भर कर, उस के कानो मे कुछ कहती हुई आगे बढ जाती है, नदी, वह अल्हड, वह चचल, घर से बाहर निकल, इधर-उधर भटकती, प्रत्येक लहर मे पी-आस!' । पीआस!' पुकारती हुई सुदूर मैदान मे खो जाती है।

निर्झर अपने हृदय मे अनन्त का प्रतिविम्ब छिपाए, कुछ गाते हुए आगे बढ जाते है। तितली रग-विरगे फूलो पर उड-उड कर निरतर किसी की ढूँढ करतो, स्वय रग-विरगी हो जाती है। भ्रमरों की गूँज और पुष्पों की सुरभि से उन्मत्त हुई कोयल आम्र मजरी को भुला कर कुछ कह जाती है। वन-दूर्वा के बीच खेतो की पीली सरसो पर भिन भिनाती मधुमक्खी की गूँज मन मे अतल अलवेली व्यथा जगा देती है। मारुत के स्पर्शो से प्राण व्याकुल हो जाते है।

भौरो के लिए फूल अपने प्रभात गान, पत्रो पर लिख जाते है। गह्वर से सिर बाहर निकाल कर भुजगिनी, पत्तो पर पडी हुई ओस को चाट जाती है। धूमिल सांध्य तारको की छाया के नीचे पृथ्वी पडी नजर आती है। भौरे कुसुमों के आस-पास मॅडराते रह जाते है और किरणे कमलिनी से विदा ले लेती है। पश्चिमा के अधरों पर से दिवाकर चुम्बन मिट जाता है। और अधकार मे नदियों का व्याकुल रोदन भर शेष रह जाता है।

विश्व मे इसी प्रकार अनेक लीलाऍ होती रहती है, सभी अनत प्राण स्पदन के रहस्य को ही प्रकट करती है। पतझड मे अपने पत्रों को लुटा कर, अपनी कोकिला के गीतों को खो कर अपनी सूखी बॉहों के बीच गूॅजते हुए निष्ठुर वायु का सगीत, वृक्ष सुना करते है। और एक दिन उन की डाल डाल नये पत्रों से भर जाती है। वे चुपचाप अपने ही पत्रों के उठते हुए मर्मर को सुनने लगते है। सॉझ होते ही उन की डालों मे कोकिला के गीत सुनाई देने लगते है। उन की बिछुडी हुई कोकिला उन के हृदय कोटरो मे बसेरा करने लौट आती है। जिन वैभव हीन सूखे वृक्षों को कोई पूछता भी न था उन्ही की घनी छाया प्राण विश्राम करने लगते है।

ग्रीष्म के आते ही सारी काया पलट जाती है। आतप से प्राण कुम्हला जाते है। जलधाराओं के समीप, मैदानों मे फैली दूर्वा पर पशु एकाग्र भाव से चरते है। उन की मंजु घण्टियो के मृदु स्वर तथा हिलती पूॅछो के कंपन, सुनने-देखने वालों को सुख देते है। आतप मे कुम्हलाई

भेडे, छाया मे पडी रोमथन करती है। तटो पर उज्ज्वल मोती बिखेर हिम शृ गो से आने वाली नदियाँ नाचती हुई दूर दौड जाती है।

प्रकृति की सपूर्ण वस्तुए अविराम रूप से किसो धारा मे उठती बिखरती और लीन होती चली जा रही है। अ तहीन यात्रा है ।

मनुष्य भी जाने या अनजाने आत्म-साक्षात्कार करने मे लगा हुआ है। प्रकृति ने अ ग तथा अन्त.करण दे कर उसे इस योग्य बना दिया है कि वह आत्मप्रकाश द्वारा अपनी विस्मृति के अ धकार को मिटा कर अनत ज्ञानैश्वय सौन्दय के दर्शन कर सके।

सीमित सत्य सौन्दय के ज्ञान से मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नहीं होता क्योकि स्वय उस के जीवन मे अनत ज्ञानैश्वय सौन्दर्य की स्फूर्ति है जिस के कारण वह अपने अपूर्ण ज्ञानैश्वर्य सौन्दर्य को पूर्ण करने के प्रयत्न मे लगा रहता है ।

एक प्राण सूत्र मे ग्रथित होने के कारण मनुष्य अपने अस्तित्व मे जिस सत्य का अनुभव करता है उसी का विश्वव्यापी आकर्षण अनादि कालसे उसे अपनी ओर खीचता चला आया है। वह अपने प्राणो के सगीत मे उसी ज्योति के स्वर सुनता है, असीम नीलाकाश को विमुग्ध हो प्रणाम करता है । बुद्धि थक जाती है । कल्पना विराम माँगती है, पर मन नही मानता। असीम को सीमाओ मे भरने का प्रयत्न बराबर चलता रहता है। लेकिन सीमाओं मे असीम अटा ही नही सकता। आदर्श, सीमाओं पर खडा होने पर भी यथार्थ से ऊपर ही रह जाता है। असीम ज्ञानैश्वर्य सौन्दर्य भी इन्द्रियो को धोखा देता है, पर इस धोखे मे भी सुख का अनभव रहता है-

"जो सुख होता धोखा खा कर पछताने में,
जो सुख होता फिर फिर कर धोखा खाने में,
अमर वही सुख तो करता नश्वर जीवन को'

(चन्द्रकुँवर कृत नन्दिनी से)

मन की यह मीठी वेदना, घनी भूत विव्हल कारी दशा मे अनत सौन्दर्य धाराओं मे फूट पडती है और मनुष्य कहता है, चाँदनी मे जलधि लहराने लगा है कलाओ की सृष्टि हो गई है।

कलाओं की यह धारावाहिक चाँदनी मनुष्य को निहाल कर देती है वह अपनी कल्पनाओं के स्वर्ग को पृथ्वी पर साकार उतरा देखता है। उस के सुख का अन्त नही रह जाता—

'अन्त नही है आज विश्व मे मेरे सुख का।

(चन्द्र कुँवर कृत नदिनी से)

इस अनुभूति के हो जाने पर फिर उसी को निरन्तर लाने का प्रयत्न मनुष्य करता है, पर खीच तान कर वह लाइ नही जा सकती वह स्वेच्छा से ही प्रसन्न हो कर आती है। आव्हान से दौडी चली आ सकती है पर गीले आदर्शों को वह कान नही देती। प्रदर्शन से उसे बैर है। वह स्वच्छन्द सरलता को अपना कर बढती है, प्रकृत रूप मे खिलती है। पर मनुष्य अपनी कृत्रिम संस्कृति का दास उसे भी बना देना चाहता है। उस चाँदनी का मन उड जाता है और भयकर ककाल किलकारियाँ भरने को रह जाते है। दोनो ही प्रकार से वह सौन्दर्य प्रभा अपनी छाया-छाप छोड़ कर ही रहती है। उस का दिव्य प्रकाश मनुष्य को अधकार के बीच भी पथ दिखलाता है, जिस से राह भूला बटोही भी ठीक राह

पर लग जाता है। इस दिव्य प्रकाश से मनुष्य की आतरिक दृष्टि जगमगा उठती है। सहज ही वह अपनी सारी अपूर्णता का अनुमान कर लेता है और उसे दूर करने के यत्न मे लग जाता है।

मनुष्य की भावना,बधन-मुक्त होना चाहती है। इसीलिए वह उस के सारे अस्तित्व से फूटकर बाहर निकल आने के प्रयत्न मे लगी रहती है। मन्दिरो के सौदर्य मे प्रकट हो कर वह मनुष्य की विकलता का पहला चिन्ह है, तो मूर्ति मे रूप-धारण कर उसकी उन्नति का दूसरा चिन्ह। मूर्ति की एक रूपता मे स्थिर न रह यदि चित्र मे जीवन की अनेक रूपता वह धारण कर लेती है तो चित्र की मूकता को छोड़ कर सङ्गीत मे नाद का आसरा लेती है। किन्तु विकलता अथवा विपलता उसे वहाँ भी नही टिकने देती, अङ्ग-अङ्ग मे वह विकासोन्मुखी नृत्य करने लगती है। और सारी साधना को एकत्रित कर अपनी व्याकुलता मे इतनी तल्लीन हो जाती है कि प्रियतम उसकी छटपटाहट को अधिक नही देख सकते और काव्य मे प्रकट हो उसे अपने आनन्द रस से परिपूर्ण कर देते है। ज्ञानैश्वर्य सौन्दर्य की अनुभूति से मनुष्य अपने अस्तित्व को ही खो देना चाहता है, और आध्यात्मिक तल्लीनता के सहारे अपने प्रियतम की प्राप्ति भर उसे नही होती वरन् स्वय भी वह प्रीतम बन जाता है। आत्म दर्शन कर लेने मे स्वय वह अनन्त हो जाता है। उस का कोई शत्रु नही रह जाता, कोई मित्र भी नही। जिसके हृदय का मुँदा कमल खुल गया उसके लिए राग-द्वैष कहाँ? किन्तु इस स्थिति की सिद्धि तक मनुष्य को अपनी वेदना, अपनी व्याकुलता और अपनी बेचैनी को धीरज से सहते हुए, अपने जीवन मे अनन्त

को प्रकट करने के प्रयास मे लगा ही रहना पडता है, उस से मुक्ति नही छूट नहीं, चाहने पर भी नहीं। वह थक जाय तो भी गति रुकेगी नही। समय कभी किसी के लिए रुका नही रहता, न तुम्हारे लिए, न मेरे लिए, न किसी और के लिए ही।

आनन्द को पाने के प्रयास मे, अथवा अपने विस्मृत स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन करने की अभिलाषा से मनुष्य ने सुन्दर-सुन्दर मन्दिरो का निर्माण कर उन पर अपनी सौदर्य प्रियता की छाप छोड दी है। विकास की ओर अग्रसर होता हुआ वह मूर्ति, चित्र, सङ्गीत, नाट्य तथा काव्य-कलाओं की श्रेणियो को पार करता हुआ केवल सौन्दर्यानुभूति की चरम अवस्था स्वय सिद्धि अत्यन्त प्रसिद्ध--आत्म-तल्लीनता तक पहुचा, जहाँ उसने अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं का अन्त पाया। उसे परम शान्ति प्राप्त हुई और वह उसी मे एक हो गया। किन्तु तल्लीनता की बेहोसी दूर होने पर वह अपने को जड काया के बन्धन मे पाता है। लेकिन अब उसकी बुद्धि समस्त विभिन्नताओं मे विद्यमान एकत्व को पहिचान लेती है। इसीलिये वह नीरवता मे भी प्राणो का स्पदन पाता है। निस्तब्ध रात्रि के प्रस्तुत मौन मे भी उसके हृदय पर चापे पडने लगती है, जैसे कोई गति से पद सचालन कर रहा हो। ऐसे समय उसे अपने प्राणो की धडकन भी असह्य हो जाती है, क्योंकि मौन चेतना के शाश्वत निमत्रण को वह अस्वीकृत नही कर सकता। वह प्रकृति के नीरव सकेतो को समझता है। फूलो की, पत्तियो की, नदियो की, झरना की, पशु पक्षियो की व्यथा को, उनकी नीरव साकेतिक भाषा के स्वरो को पहिचानता जानता है। उनके सुख-दुखों मे मिलने के लिए वह अपनी सारी क्रियाओं की शक्ति को

केन्द्रित करना चाहता है। इसीलिए ऐसे समय प्राणों के लिए उसका आदेश होता है----

'रे प्राण ठहर जरा, यह कैसी पग ध्वनि आई'

(रामतीर्थ)

भाव की अति विह्वल कारी तीव्र दशा मे वह मूर्छित हो जाता है। आनन्द सौन्दर्य उस की चेतना को अपनी झलक दिखा कर शान्ति और रस के लोक मे हर ले जाते है। बेहोशी दूर होने पर वह भाव के अभाव से आकुल हो प्रत्येक वस्तु मे उस आनन्द रस के रूप की झलक पा कर उसे ढूँढता फिरता है और न पा सकने पर 'पाउँ कहाँ हरि हाय तुम्हे धरणी मे धसौ कि अकाशहि चीरौ' कह बैठता है।

विश्व की प्रत्येक वस्तु मे अनन्त प्राण-सूत्र विद्यमान है, किन्तु मनुष्य ही शायद एक ऐसा प्राणी है जो अपनी बुद्धि से अपनी इन्द्रियों से इस रहस्य तक पहुँच सकने की समर्थ सामर्थ्य चैतन्य किये है। परन्तु निज स्वरूप विस्मृति का पर्दा पड जाने से मनुष्य की भी मति ऐसी हो जाती है कि वह सत्य स्वरूप से दूर, इन्द्रियजनित उद्वेगों के बहावे मे मनुष्य को बहने देती है। मनुष्य तब अपने जीवन के उद्देश्य को भूल पशु की तरह केवल उद्वेगों से ही प्रभावित होकर रह जाता है। इस बुद्धि विकार के निराकरण के लिए घोर साधना, कठिन तपस्या चित्त शुद्धि, सरल व्यवहार, सत्य निष्ठा, उदार प्रेम, करुणा, उच्च शिक्षा, उच्च संस्कृति तथा परिष्कृत प्रयासों की सतत आवश्यकता होती है। मनन, चिन्तन, स्वाध्याय, इन्द्रिय निग्रह, सत-साहित्य, अध्ययन, सत-सगत आदि की महान् महिमा इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए इतनी गाई जाती है।

इन विविध प्रयासों से, नाम रूप के ससर्ग से उत्पन्न हुई भेद बुद्धि मिट जाती है। बुद्धि पर पडा हुआ विस्मृति का पर्दा झीनो हो जाता है। फलस्वरूप मनुष्य का विवेक जागरित हो कर एकाएक उसे इन्द्रिय जनित उदवेगो से प्रभावित नही होने देता, वरन् सत्, असत् अथवा श्रेय का विचार कर सत्यान्वेषण मे मनुष्य की प्रवृत्ति को लगाता है। मनुष्य इस मार्ग मे आने वाली बाधाओं का सामना बडी धीरता से करता है। वह तब तक इस प्रयास मे लगा रहता है जब तक उस के समस्त क्रिया कलापो की सिद्धि, आनद की एक रस प्राप्ति उसे नही हो जाती। मनुष्य ही नही समस्त सृष्टि इसी उददेश्य की पूर्ति करने मे लगी हुई है।

अपने वास्तविक अस्तित्व की इस चरम अवस्था तक पहुँचने के लिए चेतन को चेतना द्वारा जो जो प्रयास करने पडते है उन्ही के दर्शन, मानव के जीवन तथा सृष्टि की हलचल मे होते है। मानव की चेतन शक्ति, दृश्य जगत की चेतना से मिलने के लिए व्याकुल रहती है और 'क्या' का उत्तर सब से पहले देने का प्रयत्न भी कल्पना बन कर वही करती है। अदृश्य सत्य से सबध स्थापिता करने वाली चेतना का सहायक मन है, और मन का धर्म कल्पना है, इसलिए चेतना मे प्रतिफलित कल्पना, सत्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। और इस के लिए वह प्राय. अमूर्त को मूर्त बना कर, और उस के शरीर मे प्राणों का सचारण कर विचत्र लीला कर बैठती है। इस कार्य मे विभिन्न उपाय काम मे लाये जाते है। फल स्वरूप भिन्न-भिन्न कलाओ की उत्पत्ति होजाती है।

विश्व व्यापी सत्य, व्यक्त (सगुण) और अव्यक्त (निर्गुण) दोनों मे अपनी सत्ता प्रकट करता है। विश्व उस का व्यक्त रूप है तो विश्व के अदर कार्य करने वाली चेतना अव्यक्त। कल्पना जब किसी वस्तु का सहारा ले कर चलती है तब उस का स्वरूप-प्राय. स्थूल से प्रभवित होता है वस्तुओं की सूक्ष्मता के साथ उस का स्वरूप भी सूक्ष्म होता जाता है। चेतना का विशेष अवलम्बन धारण कर लेने, पर वह सूक्ष्मतम हो जाती है। सब उस का सबध परोक्ष अन्त' शक्ति से होता है, जिस से वह समस्त वस्तुओं के मूल मे व्याप्त एकत्व पहिचानने मे समर्थ होती है। अनुभूति की इसी दशा मे कबीर पहुँचे तो उनकी वाणी ने कहा-

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली ढूँढण मै गई, मै भी हो गई लाल।

कल्पना स्वय सत्य से निकल कर उसी की ओर दौडने का प्रयत्न करती है। इसी मे उसी शान्ति प्राप्त होती है। जड पदार्थो से चैतन्य की ओर,चैतन्य से आनद की ओर जाने,और आनदसे रसमय होने की प्रवृत्ति उस की होती है। कौन जान वहाँ तक पहुँचने मे कितना समय कल्पना को लगता है। इसी समय मे कितने ही विश्व बन कर बिगड भी जाते है, और कितने ही मिटे हुए चित्र फिर से स्पष्ट हो जाते है। जीवन प्रवाह के आवर्त विवतो का रहस्य, कल्पना के इसी प्रयास मे छिपा है। जीवन के आवर्त-विवतो की कथा मे कल्पना की कथा स्वय आ जाती है। और इसी कथा मे मानव-समाज की सभ्यता-संस्कृति तथा कलाओ के विकास का इतिहास निहित रहता है।

हृदय का सहज स्वभाव आनद की अनुभूति है, जो कि जीवन का रस और चेतना का तथ्य है। चेतन्य का हृदय स्वय असीम है। वह अपनी शान्त तन्मयता मे, अपने सात्विक राग मे लीन हो जाना चाहता है, किन्तु बाह्य बधन बाधा स्वरूप उपस्थित हो उसे बेचैन कर देते है। उस की यह बेचैनी पद-पद पर लक्षित होती है। जब किसी भी प्रकार किसी भी युक्ति से हृदय इस भार को सह नही सकता तो उस की घनी अनुभूति अनेक धाराओ, अनेक रूपा मे फूट पडती है। अनुभूति की तीव्रता, अभिव्यक्ति का कौशल, मन की परिष्कृति, उपलब्ध साधन तथा परिस्थितियाँ इन धाराओं को जिन मार्गो से हो कर जाने के लिए बाध्य कर देती है वे ही मार्ग, कालान्तर मे विभिन्न कलाओं की सूचना देते है। यद्यपि अस्तित्व सब मे एक रहता है, सब मे जीवन रस है, फिर भी उपरोक्त कारण एक कला को दूसरी कला से भिन्न कर देते है। किन्तु प्रत्येक कला मे जीवन अपने सौन्दर्य की छाप छोड कर ही आगे बढता है,क्यो कि जीवन, सौन्दय है और सौन्दर्य जीवनमय है। क्यों

सौन्दर्य, जीवन के फूल मे फैला हुआ सुरभित लावण्य है। कभी विस्तृत नीलाकाश मे चन्द्रमा की कोमल रश्मियो मे काँपता, कभी समुद्र की उत्ताल तरगो मे, उद्दाम नृत्य करता, कभी ग्रीष्म के प्रखर ताप मे नीली छाया मे अलसित और कभी बसन्त के पुष्पित विकास मे आनद से अलस हो कर मद-मद तैरता हुआ, ,कभी मनुष्य की वेदना मे सिसकता, कभी धर्मचक्र मुद्रा मे नयनों और अधरो को निमीलित कर आनद से है कपित होता,सौदर्य इन विविध रूपो मे जीवन के आगे आता है। मुरझी हुई आँखो मे वह फूल बन कर हँसता है और कहता है-'तुम

क्यों उदास हो ? मेरी तरह खिलो'। यौवन की मदिरा पी कर स्वच्छ शय्या पर अलसित पड़े हुए सौंदय के हृदय पर वह चन्द्रकिरण की तरह निःशब्द गिरता हुआ, कम्पित अधरों से कहता है—'तुम्हे कुछ और सुख हो !' और क्षणिक सौन्दर्य से उन्मत्त मुख पर वह डूबती हुई चाँदनी की पीली प्रभा की तरह गिर कर कहता है—'मै भी तो सुन्दर थी !' और असीम हिम प्रसार की सुन्दरता को अपने हृदय मे भर कर वह भावुक प्राणों के कानों मे गुनगुना जाता है- सुन्दरता ने महल बनाया हिम से अपना।'

सौंदर्य, जीवन को भावुक तथा सम्पन्न बना देता है। अभिनव तृणाकुरों से खचित धरणी, उस के अनुरूप विस्तृत नीलाकाश, मुक्त पवन प्रवाह, प्रसन्न सूर्य्य रश्मियाँ, चारु चन्द्रिका के बीच सागर की उर्मिल लहरे, नदियों की अठखेलियाँ, विकसित सुमनों की सुरभि, अभिनव बासन्तीरूप, प्रेम--माधुरी, नक्षत्र-मालिकाओं का उज्वल सतरणशील सौन्दर्य एक से एक उपकरण विश्व के विराट रंग-मञ्च पर चेतना को मुग्ध करने के लिए विद्यमान है। इसी से चेतना मे निरंतर हलचल मची रहती है और परिणाम स्वरूप, प्राणों मे स्पदन तथा जीवन मे प्रवाह आता है, कलाकार मे उन्मेषशालिनी प्रतिभा की स्फूर्त्ति आती है। कालिदास, रवीन्द्रनाथ और चद्रकुँवर को सौदय प्रेम ने ही गधर्व गान करने वाला कवि बनाया है। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी, गुप्तकालीन मूर्तियाँ, मनुष्य के सौन्दर्य प्रेम से उत्पन्न हुई कलाओं की साक्षी है। मनुष्य का हृदय आज भी सौन्दर्य प्रेमी है, किन्तु भौतिक आवश्यकताओं की विषमताओं के कारण उस का

हृदय अपनी इस दृष्टि को खो चुका है। कम लोग है जिन्हों ने विषमताओं के बीच भी एक निष्ठ भाव से सुन्दरता की उपासना की है। एक निष्ठ उपासना से प्रतिभा और भावुकता का मणि काचन संयोग किस सुदरता से हो जाता है, चन्द्र कुँवर बर्त्वाल की कविताएँ इस बात को भली भाँति समझा देती है।

हिमवन्त

नीचे है गगा, पर्वत के मस्तक पर हिम शीतल,
उर पर देवदार का बन,
जिस की छाया मे छिपती-सी जाती राह सुकोमल,
छोड़ क्षीण पद चुम्बन !
हँसती है हिम के महलो के पीछे से उठ शशिनी
खोल मेघ अवगुंठन,
उठती है वसुधा के उर से मर्मर हर्ष रागिनी,
उपजा बन में कपन !
बैठे हैं गगा के तट पर शिला बनों में बादल,
उर में वज्र छिपा कर,
कभी कभी हँस पड़ती बिजली जाने क्यों हो चंचल,
चन्द्र-प्रभा में सुन्दर !
सुर धुनि की उजली सिकता पर, पर समेट कर अपने,
सोये मानस बासी !
गंगा की लहरें चमकाती पल-पल मुख पर जिन के,
शुचि द्युति शशि के मुख की !

गिरती है वसुधा के अङ्गों पर अविराम गगन से,
दुग्ध--सुधा की धारा।
डूब रहा है धीरे-धीरे जिस मे मेघों को ले,
शुभ्र हिमालय सारा
हरियाली से दूर शिलाओं की विषमा धरती पर,
भूर्ज पत्र का पादप
खड़ा हुआ है, गिरी हुई है जिस के पद पर छाया,
मस्तक पर चन्द्रातप
झूल रहा है जिस की बाँहों मे चचल चित अति मारुत
धीरे धीरे सुख से
करता छाया के अधरों को मुखरित और विकपित
मर्मर से निज मुख के
दूर किसी गिरि के शृगों मे बैठी करुण स्वरो मे
विकल रो रही कुररी
आती इस गिरि पर उस की ध्वनि कभी भूल करके ही
विगत दुख की स्मृति-सी।
ये आनद लोक के गिरि है, सदा जहाँ नयनों मे
हँसता है हिम उज्ज्वल,
जहाँ ग्रीष्म मे भी रहते हैं उग्र ज्वलनमय भास्कर—
शशि से ही प्रिय शीतल।
यहाँ कभी दूर्वा के ऊपर चले न पद मानव के
दुख शोक से चचल।

यहाँ द्रुमों के नीचे विचरा कभी न कोई जिस का
हो मलीन अन्तस्तल
सुनी न इन पावन तरुओं ने अपनी शुचि छाहों मे
मलिन वासना वाणी!

साम-गान

(१)

आर्यावर्त पिता हैं मेरे, गंगा मेरी माता,
यमुना मेरी बहिन पुण्य के पावन जल से न्हाता
पिता अन्न देते, माता हम को जल से नहलाती,
बहिन हाथ से हम को शीतल जल का पान कराती!
हम प्रभात होते ही माता के चरणो पर जाते
भक्ति भाव से नत हो कर के उन को शीश नवाते।
मै न रहूँ जब जननि खेलता इस नन्दन आँगन मे
मुझे छिपा लेना तुम अपने शोकोद्वेलित तन मे!

(२)

हमें पिता के गुण का गौरव, माता की पवित्रता का
और बहिन के स्वर का, जिस में गीता स्वर लहराता!
सभ्य पिता माता के सुत बन हम इस जग में आये,
सफल हमारा जन्म राम की मातृ-भूमि मे जाये,
कृष्ण-मोहिनी छाया हम को भी वे ही कदम्ब देते,
बुद्धदेव के प्रिय पीपल हम को लख कर भी हिलते!
धन्य-धन्य हम को भी उस ही जननी ने जाया

जिस की गोदी मे बालक बन कर निराकार था आया !

हिमशृंग

स्वच्छ केश रिपि ये अंजलियाँ भर कमलो से,
गिरि शृंगो पर चढ उदयमान दिन कर का
उपस्थान करते है मृदु गभीर स्वरो मे,
स्निग्ध-हँसी की किरणें फूट रही जग भर मे,
पुण्य नाद साँसो का पुलकित कर विपिनो को
मुखर खगों को, जगा रहा गृह-गृह मे निद्रा से
निश्चेष्ट पड़ी आत्मा को, मुक्त कर रहा
तिमिर रुद्ध जीवन के पृथ्वीमय प्रवाह को !
द्वार खुल गये अब भवनो के, शून्य पथो मे,
शून्य घाटियो मे सरिता के शून्य तटो पर,
जाग उठी जीवन-समुद्र की मुखर तरगे
पृथ्वी के शैलो पर, पृथ्वी के विपिनो पर
पृथ्वी की नदियो पर, पडी स्वर्ण की छाया,
उदित हुए दिन कर इन की पूजा से घिर कर !

हिम-प्रात

पृथ्वी जगी, हुआ चीडो मे गुंजित मर्मर,
डोली पवन, कँपे छाया के अंग मनोहर !
जगे विहग, पखो से आलस हिला डुला कर,
नोच नोच निद्रा, रह-रह कूजन कर सुंदर,
उठे जुगाली करते पशु, उन के कठों की-

मंजु घंटियों से मुखरित निर्जन वनस्थली!
फिर हो गई, उठे ग्वाले, मृदु मुरली के स्वर,
लगे गुञ्जाने फिर गिरि के पथ निर्जन सु दर!

हिमवान

मेघों के बंधन में बँधे हुए हिमवान हे महादेवता!
पुण्यस्तोया भागीरथी श्री चरणो मे दासी विनता!

हिम-स्तवक

हे मेघों के महा मित्र, हिम-पुंज शिलामय!
सविता के प्रकाश के मदिर सूर्य्य कातमय!
उषा कान्त हे वसुधा के प्रिय प्रात शरीरी!
हे पर्वत अधिराज देव! हे द्यो पिता के प्रहरी!
सध्या के गुलाब के बन! रजनी के दीपक!
वसुधा के उर पर फूले हे हिम स्तवक!
हे शशि के एकान्तवास से पावन गिरिवर!
नमस्कार तुम को शतवार, चिर युवा सुन्दर!

११ जनवरी १६३८ ई०

हिम-छाया

पड़ी देश पर मेरे हरित तुम्हारी छाया!
मेरे विपिनों में उज्ज्वल गर्जन कर आया,
हास तुम्हारा, स्नेह तुम्हारा, हृदय तुम्हारा!
मेरी धरती को प्यासी ही छोड़ गगन में,
दौड़ रहे मेघों को तुम ने दृढ़ हाथों से

रोक, सहस्रो मधुर स्वरो में अमृत उन का
शुष्क हृदय पर मेरी धरती के बरसाया,
कृषक जोतते खेतो को घाटी घाटी में,
कृपक नारियाँ गाती-गाती काट रही हैं
खेतों खेतों की पीली शोभा, तरु-तरु पर
रस सचित करते फल, बन-बन मे चरती है
पशुओं की टोलियाँ, कूकते सुन्दर पछी,
आँखा में करुणा होठों मे हँसी मनोहर,
भरे देखते तुम मेघो के पीछे छिप कर
सुखी धरा को, सुनते प्रतिपल पुलकित हो कर,
गृह गृह से, बन बन से उठती हर्षित ध्वनियाँ!

रैमासी

कैलाशों पर उगते ऊपर, राई-मासी के दिव्य फूल,
माँ गिरिजा दिन भर चुन जिन से भरती अपना पावन दुकूल
मेरी आँखों में आये वे राई मासी के दिव्य फूल!
मै भूल गया इस पृथ्वी को मै अपने को भी गया भूल,
पावनी सुधा के स्रोतों से, उठते हैं जिन के अरुण मूल,
मेरी आँखों मे आये वे राई-मासी के दिव्य फूल,
मै ने देखा थे महादेव बैठे हिमगिर पर दूर्वा पर,
डमरू था मौन, भूमि पर गड़ था चमक रहा उज्ज्वल त्रिशूल,
सहसा आई गिरिजा बोली, मै लाई नाथ अमूल्य भेट,
हँस कर देखे शकर ने, वे राई-मासी के दिव्य फूल,

मै भूल गया इस पृथ्वी को, मै अपने को भी गया भूल.।

सूरजमुखी

वह सूरज की ओर देखती चिर-तपस्विनी,
खड़ी हुई है शान्त भाव से स्थल की नलिनी,
चिर प्रसन्न मुख कही न जिस पर दुख की छाया,
अश्रु सिक्त अजलि-सी धरणी की शुचि काया,
रवि से बिछुड़ी एक किरण-सी खडी धरा पर,
जलती पूजा के प्रदीप की लौ-सी सुन्दर,
वह रवि-मुख की तृपित चकोरी दिनभर हँसती,
प्रिय का दर्शन पीती रहती कभी न थकती,
वह सूरज की धीर अनुचरी रह भू पर ही,
नयनो से ही निज प्रिय का अनत पथ चलती,
सूरज उतर रहे अस्ताचल के शिखरों पर,
खडी हुई है वह पीली किरणों से घिर कर,
लौटेंगी जो किरणें फिर निज सूर्य्य लोक को,
निज सदेशो से सुरभित करती है उन को,
वह उपवन में फूली सूरजमुखी अकेली।

वसन्त

रितुओं के माया--जग मे बस, सौन्दर्य लता-तल पर मालस,
गढ़ता बसन्त था वह मुरली, खिल उठती जिस से कली-कली ;
जिस की प्रति ध्वनि कोकिल के उर से रो-रो कर आती निशि भर
गढ़ता वसन्त था वह मुरली, छबि छाया में उजली पतली ;

मेघों के नीले वसन पहने, धारे विद्युत द्युति के गहने
कटि-तट पर इन्द्र धनुष झलमल, शिर पर रेशम का मृदु बादल,
आँखों में भर मदिरा श्यामल, आई बरसा सुन्दरी नवल,
सुन कर नूपुर का छल छल स्वर, देखा वसन्त ने फिर हँस कर।

ग्रीष्म

तपो ग्रीष्म आग हँसो, पीड़ित ससार करो!
झरनों को शुष्क करो, नदियो का नीर हरो!
ज्वाला बरसा कराल, क्षुब्ध तुम समुद्र करो!
पत्रो का हृदय सोख, वृक्षों को चूम-चूम,
हे विराट! शैलो को, ज्वाला से भस्म करो!

वर्षा

जग का ताप शान्त करने को उमड उमड वर्षा आई!
दिशा दिशा से उठ उठ कर मंगल की बदली लहराई!
उड़ी पवन.काँपे द्रुम पल्लव हुआ गगन मे मधुर मधुर रव,
चौंकी चपला-दिशा दिशा से मधुर झडी झर आई!
आर्द्र पल्लवों ने जीवन की सजल रागिनी गाई,
खोले दूर्वा ने निज लोचन हुए हरे मुरझे किसलय वन,
सरिता ने अँजलियाँ भर भर अपनी तृषा बुझाई!
दिशा दिशा से जीवन की कल ध्वनियाँ पडी सुनाई,
कही झर रहे हैं नव निर्झर कही उड रहे विहग मनोहर,
कही भरे आँसू पलकों मे, कही कोंपले उग आई!

बैठ कहीं ग्वाले ने अपनी मुरली मधुर बजाई!
हरी भरी करने को धरती उमड उमड वर्षा आई!

कफ़्फ़ू

भीगा है अभी अन्न--गर्भा भू का रजत निमित अ चल,
आती निरभ्र नभ में हँसती, किरणें मोचित करने दृग जल!
झरता है गिरि के अ चल से गद् गद् करता धूमिल निर्झर
अपने वर्षा वैभव सम्मुख अब दीन और कृश तनु हो कर!

खो गई आज पथ ही पथ में कल की उमड़ी दुद्धर्ष नदी,
रह गई शेष क्षत रेखा-सी, बन्धुर पाषाणी शय्या ही,
कनकाचल से कचन निर्झर गिरता फैल गिरि-पद तल पर,
कितनी कविता बरसी भू पर! कितने उग आये हैं अंकुर!

गीतों का फैला दू अंचल, सुषमा समेटने क्षण भगुर!
उस विश्व हृदय के गीतो को ले कर कूके जब तुम भू पर,
मै ने भौहों मे छिपा लिया, अपने गीतों को हे सुन्दर!
खेतों में गाती कामिनियों ने रोके अपने अरुणाधर!

मारे तेरे तन के ऊपर कस कर सुरभित कुसुमों के सर!
गिरि के अगणित गह्वर दल से दुहराता तेरा स्वर निर्झर!

निर्जन ही समझ धरातल को, पतली बाँहों में बाहें भर
नाची वह ताल ताल पर झुक, परियाँ दुहराती तेरा स्वर !

जुड गई आह ! क्या आज धरा, टूटे उस अमर स्वर्ग से ?
चिर विस्मृत इस जीवन बन मे क्या बंशी के मृदु स्वर बरसे ?
हो कर विलीन निज गीतों में तुम चले गये हे चिर सुन्दर !
क्या कह कर तुम्हें पुकारूँ हे नन्दन वन के स्वर सुन्दर !

मै ने जो नाम दिया तुम को अपनी जीवन गत भाषा मे,
वह कैसे तुम्हें मान्य होगा ! अगणित भाषाएँ हैं जग मे!
पर जब तुम आते चिर नूतन गीतो का मगल घट ले कर,
बन जाता यह क्षण भगुर जग भी सुन्दर स्वर्ग अमर !

द्यौ[1] हिमालय

गये मेघ वर्षा के अम्बर से हिमगिरि के—
हिम-जल से गम्भीर किनारे कर सरि सरि के ,
हँसे सूर्य फिर, पर्वत पुंज अनेक पार कर,
हँसता जैसे पथिक सुख भरे गृह मे आ कर
हिम गिरि के शिखरों पर हिम की रेखा पतली
शेष रही अब, और कगारों में कुछ निचली--

---

[1] विशेष रूप मे द्यो (दिवि=आकाश, प्रकाश) जब आया हो, वर्षा के बाद का प्रसन्न प्रकाश युक्त आकाश , ऐसे प्रकाश मे हिमालय की शोभा इस कविता मे दर्शाई गई है ।

ओर गई रेखाएँ हिम की—बाकी नीला,
हिम-विहीन है इन्द्रनील मणियों का टीला,
मोह रहा है आज हिमालय शान्त मेघ-सा,
जिस मे जम कर नील हुई हो उज्ज्वल बरसा,
तट रेखाएँ जिस की दीप्त हँसी से उजली,
करती हो पीछे छिप कौंध-कौंध कर बिजली

प्रत्यूषी हिमालय

पड़ी रात, सपनों से भरी गगन की पलकें,
नव बसन्त में ज्यो माधवी-लता की अलकें
भर भर जाती हैं मुकुलों से औ, फूलों से!
उड़ी प्रभा दिन की खेतों से सरि-कूलों से,
देवदारु के नील वनों से शैल छोड कर
लक्ष्मी-हीन प्रकाश-हीन हर्म्यो-से भू पर,
एक हिमालय ही वह सहसा छोड़ न पाई!
पहले हुई अरुण लज्जा-सी, फिर सुधि आई
उसे कौन सी! और पड़ी पीली वह सहसा
किसी तरह हो! विदा गई जब रवि-वश-विवशा,
उस की पीली छाया हिमगिरि पर रजनी भर
छाई रही—विरह मे प्रिय छवि-सी आँखो पर,

शरद-लक्ष्मी

भरा शरद-लक्ष्मी के हंसो-से अब अम्बर
गिरे व्योम से किरणो के निकुंज धरणी पर—

ज़हाँ डोलते हैं हिम-श्वेत वसन धारण कर--
कुमुद-सरों, में और शेष सारी पृथ्वी पर
शरद्-हास विकसित कासों का फैला सुन्दर!
विहग परों से करते हैं रव-मधुर सरोवर!
सीमा में है आई उतर कलंक छोड़ कर
वर्षा की मर्यादाहीन नदी पग पग कर,
होने लगे धान खेतों में पक कर पीले
बने रसों से नभ के, भू के फल सुरसीले!
स्वच्छ चन्द्रिका में, उज्ज्वल फूलों के वन में,
सरि-पुलिनों पर, लहरों की कोमल कम्पन मे
अब सर्वत्र सुनाई देते मुग्ध मनोहर
प्रेम भरी हँसियो के ऊज्ज्वल और मधुर स्वर!

शरद् गान

शरद् सूर्य के सोने के द्वारों के आगे,
पके धानो की निश्चल शोभा में डूबी,

फूलों से अंजलि भर, निर्मल नयन उठाए,
गान कर रही है पृथ्वी मृदु मंद स्वरों में!

संध्या-पवन

सोने की रेखाओ से घिर गए दिवाकर,
पश्चिम में लहराया घन परिमल का सागर,

केसर से भर गये मेघ, केसर मे सन कर
लगी उमड़ने नभ से संध्या पवन मनोहर!

मनोज्ञ कमल

आकर्ण तान धनु सूरज ने जल देव वरुण पर अग्निवाण
छोडे हँस, वे चुपचाप गये देने उन को पीडा महान्
जलदेव ने सही व्यथा चुभे उन वाणो की, हँस हँसी तरल,
अपने महलो की वापी से चुन वर्ण-वर्ण के फुल्ल कमल,
सप्रेम वरुण ने सूरज के चरणो पर उन्हें किया अर्पण,
वे वर्ण-वर्ण के कमल उड़े छूने, पूषण के पूत चरण।
वे रहे उमड़ते घन नीले, काले, सु श्वेत, अमिताभ्र कमल,
उन कमलों से भर गया गगन, खो गया सूर्य औ' अंबर तल।
फैला वसुधा में कमलो के पंखों का घोष मधुर कोमल।
वह उठी धरा के अधरो पर सहसा ही पवन मद शीतल।
रवि के चरणो को चूम, गिरे वे कमल वारि कण बन भू-पर,
फिर सिमट-सिमट, झरने सरि बन, बह चले मनोहर कल-कल कर!
वे बहे और हो गये लीन, उस वापी के जल मे जा कर,
जिस मे कुछ ही दिन पहिले थे वे खड़े, मनोज्ञ कमल बन कर।

शरद्-हेमन्त

वर्षा भी बीती, बनान्त में थे निश्चल फैले
कासों का उज्ज्वल-सागर भी सूखा धीरे।
शरद् काल की मधुर हवाओ के समूह में
अब मिल गई एक दो शीत शिशिर की पवनें
कभी अचानक सध्या को, अथवा प्रभात को,

कँपा हृदय, जो सहसा ही चुपचाप शरद की–
स्निग्ध चाँदनी में खो जाती धीरे धीरे
धूप हो रही है करुणा से निर्मल कोमल
चले जा रहे हैं दिन, आसमान मे पल पल
क्षीण क्षीण होती जाती है शशि की शोभा
पृथ्वी से आनन्द उड रहे आ उस दिन तो
लेटे रहे दूब पर हम, मृदु चरण गगन मे
चलती हुई चाँदनी को चुपचाप देखते
आज गगन मे अंधकार है, शून्य पथों पर
गूंज रही है पवन पत्र हैं मर्मर करते!

हेमन्त-प्रात

द्वार खोल गृह के, किरणों से आँगन भर,
बैठा यह हेमन्त प्रात, नीरव पृथ्वी पर!
नयन मूँद रवि की कोमल किरणो से तपता,
आने वाले प्रिय वसन्त के स्वप्न देखता,
जब उसके आगे चुपचाप खड़े वृक्षो पर,
भर आयेंगे पल्लव, गुञ्जित होगा मर्मर,
जब उसकी बशी उसके अधरों से लग कर,
भर देगी पुलको की लहरों से पवनों को,
कर देगी रितु—स्पर्शो से सुन्दर किरणो को,
शशि जीवित हो जावेगा, उज्ज्वल अम्बर मे,
मधुर हँसी की किरणें फैलेगी जग भर में,

और जगा देंगी जग भर के मृदु स्वप्नो को,
सोच रहा था वह, उसके दुर्बल हाथो पर,
लटक रहे थे चूर-चूर हो घन-घन आँसू,
उस के क्षीण पीत निष्प्रभ अंगों के ऊपर,
मरती थी छवि ज्योत्स्ना ठंडी आहें भर,
केशों पर, विखरे केशों पर, गिरे हुए थे,
पीले पल्लव, था सब ओर उमडता सूनी
निठुर मृत्यु का प्रबल वेग से बढ़ता मर्मर,
पड़ी हुई उस की बंशी नीरव धरणी पर।

अभी मरण की

अभी मरण की छाँह न पडने दो जीवन मे,
अभी प्रलय की बाढ़ न घुसने दो तन-मन मे;
कौन जानता रही अभी भी हो कुछ आशा,
अभी न इतने आँसू भरो दुखी चितवन मे।

मुक्त होगी

मुक्त होगी मुक्ति दायिनि, मुक्त होगी कठ वासिनि
प्रेम वाणी इस हृदय की।
आज तक थी घिरी मेघों की घटा से शशि-मुखी
आज तक था उर दुखी।
अब न नभ में घन घिरेंगे, अब न बादल अमृत-रस पी
शून्य शशि मुख को करेंगे।
अब हँसेगा गगन-सा मन, अब खिलेगा पवन-सा तन

मधुर निर्झर ये झरेंगे।
अब हँसेगी अमृत रस से पूर्ण वाणी, शशि-मुखी-सी
कर धरा पर अमृत वर्षण।
आज तक था जो भिखारी वह नही भिक्षुक रहेगा।

हंस-माला

मृत्यु का भय अब नही मुझ को रहा,
मिल गई मुझ को प्रिये, स्वर की सुधा।
देख ये निर्मल नयन जल से भरे,
स्वर्ग का अनुमान कुछ होता मुझे,
उड़ाती मुझ को हँसी की हंस-माला
कौन जाने किस निराले लोक मे।
आह। यह कैसा सुशीतल स्पर्श है
स्वर्ग अह। पशती हृदय मे है सुधा।

हिम-चाँदनी

हिम-शय्या पर सोई शशिनी चपक वरणी
चली गई उस सोई को तज शशि की तरणी
नील गगन के किन द्वीपों की ओर काँपती
राज--हसिनी-सी सुकुमार निश मे उडती—
रही। चाँदनी पडी हुई हिम की शय्या पर,
रही देखती तारों से शत स्वप्न मधुरतर
गाती रही साथ परियो के गुफा द्वार पर,
रही नाचती किन्नरियों की छाया बन कर,

भोज-पत्र के बन में खड़ा हुआ था किन्नर
गिरी चाँदनी हिम में फिसल उसी के ऊपर !
और चूम मुख हँस वह, दौड़ गई लहरी-सी
वह हँसती ही रही पद्मिनी सी लहरों पर,
ले सुवर्ण बालुका बनाती परियों के घर
उस मे बुला बसाती परियाँ, सब से सुन्दर,
घाटी से ऊपर उठती फिर धीरे धीरे।
स्वप्न देखती थी तारों से अगणित सुन्दर
शशि की वह प्रकाश छाया हिम की शय्या पर
लगे डूबने सहसा शशि प्रभात सागर मे,
लगे खिसकने स्वप्न चाँदनी के नयनो से,-
उठी चाँदनी, उर पर शशि का हाथ न पा कर
डूब चुके थे शशि, वह मरी उसी शय्या पर !

अलकनंदा

बही जा रही उसी नदी की यौवन भरी तरगे !
गाओ, हे अनंत तक गाने वाली भरने वही उमंगे
लहरों के इस प्यासे तट पर एक रात में आ कर
लाया था शशि मुख छाया मे अपनी प्यासी गागर ,
लहरों मे लिपटी आई तुम इस छोटे उर में बसने
वैसा ही फिर हे बन-बासिनि लहरो मे घिर आओ,
गिरि चढ़नेसे श्रान्त पथिक को फिर जल गीत सुनाओ!

आकाश

जग के सुख दुख उच्छ्वास हास,
सब तुम में होते बिलीन,
तुम लेते सब बन निर्विकार,
हे महाकाश ! तट-तीर-हीन
हे गूढ़ चिरन्तन ! चिर अभेद्य !
भटके जिस मे तारे अनंत !
डूबे कितने रवि, गृह, उपगृह
खोए जग के कितने वसन्त !

है तुम में छिपे हुए कितने
स्वप्नों के प्रिय नक्षत्र लोक,

जिन में करते सुर-गण विहार,
चिर युवा अभय नित बीत शोक !
बज उठती बीणा कही मधुर !
चंचला नृत्य करती सुन्दर !
मेघों में बजते मृदु मृदंग,
उठती वर्षा की एक लहर;
निस्तब्ध रात्रि में कभी-कही
निःशब्द शेष की शय्या पर;
लेटे रहते हैं विष्णु और
लक्ष्मी झलती चामर सुन्दर !

शिक्षा तथा व्यवहार, भी बदलते है। उपयोग मे आने वाली चीजों का परिवर्तन भी इस का कारण हो सकता है। इस लिए सौन्दर्य-भावना में भी परिवर्तन किया जा सकता है। व्यक्ति, परिवार, समुदाय, जाति तथा देश से ले कर विश्व सृष्टि तथा ब्रह्माड तक सौन्दर्य की भावना का विस्तार हो सकता है। वह लघु कोमल, स्निग्ध, करुण ही नही—भीषण, रूक्ष और अद्भुत विराट भाव चित्रों को अपना रग दे सकता है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ यदि कोमल सौन्दर्य के विराट कवि है तो वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष भवभूति, चन्दबरदाय, भूषण, जयशकर प्रसाद और चन्द्र कुँवर बर्त्वाल ने भीषण सौन्दर्य के भी दर्शन किये है। भीषणता के भव्य चित्र भी चन्द्रकुँवर की सौन्दर्य भावना के विस्तार को बतला रहे है, इन मे प्रकृति और पुरुष, स्निग्ध और भयंकर भाव एक साथ मिल कर सौन्दर्य की सृष्टि करते है और हृदय पर अपने अमिट प्रभाव को छोड़े बिना नही रहते। जाग्रत आत्मा की विराट शक्ति से शब्दों मे भी ओजस्विता आ गई है—

भीषण-सुन्दरता

फैला चारों ओर सघन हिम का जड सागर,
    लहर प्रकंपन होन, हीन बेला, स्वर गर्जन,
चन्द्र--लोक पर का-सा फैल रहा सूनापन,
    मंडराते हिम-भरी घाटियों मे उन्मद घन,
शिखरों से हिम निचली ओर सवेग फिसलता,
    जिस से आहत होकर पृथ्वी रोती हिलती,

गुफा-गुफा से निकल सगर्जन हिम की नदियाँ
उठा रही हैं गिरि मे एक तुमुल कोलाहल;
ताडव-नृत्य-कला-सी नाच रही शिखरो पर,
पवन उड रहा निज बर्फानी गुफा नीड से,
तीव्र बाज-सा, पजो मे विदीर्ण करता बन,
झपट रहा नागिनी-सी मुड़ी हुई नदियो पर,
मोर पंख फैलाये देवदारु के बन पर,
कँपा रहा धरणी धर, रोष भरे पंखों से,
मृत्यु सचरण करती, इन सूने शिखरों से,
झुक कर नीचे देख रही गिरि की गहराई,
जहाँ पहाडों में पिचकी सरिता रोषीली,
गरल उगलती है मुख से, पत्थर पर टकरा,
कभी चढ रही बर्फीले हिम शिखरो पर;
कुत्ते-सा दौड़ता पवन है पीछे-पीछे
जिस के पास अमृत की कुछ बूँदें रक्षित है,
पी कर बनने अमर फिर रही मौत भयंकर,
खोज रही सुन्दरता को गिरि के शिखरों पर!

अट्टहास

सहसा ही गभीर हुआ उस का मुख, भौहों,
में काले बादल घिर आये, लगीं चमकने
तीक्ष्ण बिजलियाँ, अट्टहास कर उठे अचानक,
निज कराल दष्ट्राएँ खोल वज्र दुर्दर्शन,

ढका क्रोध से वह अपने ही धूम्र--जाल के
नीचे दावानल-सा महाप्रलय को उठता,
उत्तर से घन घोर पवन उन्मत्त हो लगी
उसके अन्धकार को चारो ओर उडाने।
घिरा गगन, ढक गये सूर्य्य, पृथ्वी चिंतित हो
बैठ सघन छाया मे, त्रस्त भाव से उस को
लगी देखने, मयपुर की दानव लक्ष्मी-सी,
महादेव ने अट्टहास कर, कॉप क्रोध से
फेला घोर जटा, चमका त्रिशूल हाथों में,
जब उस पर थी डाली महानाश की छाया।

हाँ हाँ यही

हिमगिरि के शिखरो पर चढ़कर मै ने देखा—
दौड रही थी दूर, समुद, गगा की रेखा,
मृदु कलरव करती, पुष्पित पुलिनो के भीतर,
मधु-धारा-सी, शान्त तितलियो से घिर सुन्दर!
हरियाली से घिरे ग्राम उठ कर फूलों मे,
देख रहे थे, जल की छवि फूली. कूलो मे,
सुनते थे विमुग्ध हो, मृदु लहरो का कूजन,
मैने देखे नगर, व्यस्त हो जिन मे जीवन
दौड रहा था उडते हुए समय के पीछे,
और कही चुपचाप किसी छाया के नीचे
पड़ी हुई ग्वालिन कोई मद अलस दृगों से,

देख रही थी नील गगन मे दल मेघों के,
मेरे पुण्य देश की एक झलक यह सुन्दर
बसी रहे हे प्रभु, इन आँखो मे जीवन भर।

(२)

किन्तु दूसरे ही क्षण, विस्मित मैं ने देखा—
गंगा नही--नही वह तो थी दुख की रेखा,
थे श्री हीन पुलिन, सिर धर सूनी सिकता पर
मेरी मातृ भूमि थी रोती पीड़ित होकर!
अंधकार, अज्ञान, द्वेष, हिंसा से जलते
ग्राम और पुर थे, मारुत मे अहरह चलते
थे मलीन धूम्या के झोंके प्रलय घनो से,
'हा-हा' रव उठता था नगरो और बनो से!
विकृत-वेश हाथो में लेकर सूखे खप्पर
नाच रही थी नग्न नारियाँ विस्वर हँस कर!
नगरों में, ग्रामों मे चारों ओर खड़े थे
क्षीण युवक, छायाओ मे छिपते प्रेतो से!
'यही देश है मेरा ?' मैंने पूछा रो कर!
'हाँ हाँ, यही यही' बोला कोई हँस-हँस कर!

प्रकाश—हास

किस प्रकास का हास तुम्हारे मुख पर छाया ?
तरुण तपस्वी तुम ने किस का दर्शन पाया ?
सुख-दुख में हँसना ही किस ने तुम्हें सिखाया ?

किस ने छू कर तुम्हें स्वच्छ निष्पाप बनाया ?
फैला चारो ओर तुम्हारे घन सूनापन,
सूने पर्वत चारों ओर खडे, सूने घन
विचर रहे सूने नभ मे, पर तुम हँस-हँस कर
जाने किस से सदा बोलते अपने भीतर !
उमड रहा गिरि-गिरि से प्रबल वेग से झर-झर
वह आनन्द तुम्हारा करता शब्द मनोहर,
करता ध्वनित घाटियो को, धरती को उर्वर
करता स्वर्ग धरा को निज चरणों से छू कर,
तुम ने कहाँ हृदय ! हृदय मे सुधा स्रोत वह पाया ?
किस प्रकाश का हास तुम्हारे मुख पर छाया ?

हे वक्र दन्त !

क्रूर काल के हे वक्र दन्त ! होता आशा का हाय अन्त !
खेल न पाया इन प्राणों से थोड़ा भी मधुर-मधुर वसत !
आये जगती के तीन ताप, करने को मेरी हृदय-माप !
बढ चला हृदय उठ गई श्वास, यह पलक झँपी या करुण त्रास
कुछ कह न सका सुनकर निनाद, लख विश्व व्यथित पाया विषाद
आई मधुमय सरिता हिलोर, बस भीगी हे नयन कोर !
इस मूक रुदन मे मै अजान, सुनता उत्पीड़ित व्यथित गान !
अलसित चलती धीमी बयार, करुणा से भीगे हृदय-तार !
हृद,वीणा से मिल वह अजान, करती है नर्तन सुना गान,
खिंच जाते मेरे करुण-प्राण, रो पडती आँखें धरे ध्यान !
वीणा भी अब बन गई मूक, चुप रहो, आज मेरा दुलार

करने को मेरे हृदय टूक, करता निज पखों का प्रसार !
मेरी आशा का यही शेष, पाया निर्जन ध्वंसावशेष
करुणा विगलित जीवन-प्रवाह, तेरी होवे अब यही राह !

मृग-मरीचिका

यदि ऐसा ही शोकाकुल था, प्रभु मेरे जीवन का अन्त,
विटप-वल्लरी से आकर, खेल गया क्यों निठुर वसन्त ?
होना था मुखरित लाली का, वह नीरव काला अवसान,
विहगों ने गाये थे फिर क्यों, प्रमुदित होकर मंगल-गान !
यदि वह इन्द्र-धनुष केवल था भ्रम, नयनों का जीवन का,
यदि आँसू का वाष्प रूप ही, सजल श्याम वह घन था,
तो माया रूप कौन था ? किस ने मुझे लुभाया ?
क्षण भर को प्राणों पर डाली वह सतरंगी छाया !
दो ही दिन बस दो ही दिन का वह हँसना इठलाना,
दो ही दिन का वह प्रमोद, फिर सौरभ का उड़ जाना,
भरी हुई मधु की प्याली का ढुलक रिक्त हो जाना.
सर्वनाश का भीषणता ला, मेरे गीत चुराना !
पलकों पर सोने से सुन्दर सपनों की वह क्रीड़ा,
फिर न लौट सकने वाली, वह गई प्राण की व्रीडा !
सपना हा वह गगन चुम्बी, कंचन महल बनाना,
और वहीं सारे विभवों का, एक-एक कर आना !
सोने के महलों का राजा, रूप-परी वह रानी,
कानन-क्रीड़ा स्रवित हो रहे, हिम का पीना पानी !

पहिन कुसुंभी वस्त्र झूलती, नव वसन्त में रानी.
और गर्व से कुसुम प्रजा को, लखता मै अभिमानी !
देख रहा था मै प्रभात मे, एक दिव्य 'छवि' आकुल रूप,
जो आशामय चित्रकार ने, खीचा था मेरे अनुरूप,
किंतु आह ! उस दिन से ही, बदल गया यह सारा संसार,
मेरी मधुर भावनाएँ वे, आज बन गईं प्रभुवर क्षार।
नीरवता मे छिपता-सा जाता, जब यह कलरवमय ससार,
तब सोचा था देव, रचाऊँगा, नीले नभ मे अभिसार।
पर किसका नीला नभ! किस की रानी !किसका वह अभिसार,
वही अँधेरी रात ! बहाना, अश्रु रूप में अपना प्यार।
क्या सोचा था जीवनादि में, आशा किरण जाल मे मुग्ध,
इति मे प्रभु मेरे जीवन की, हुई दुराशाएँ क्यो लब्ध।
यदि ऐसा ही होना था प्रभु, मेरे जीवन का अवसान
क्यों न हो लिये तुमने मेरे, नव वसन्त में प्रमुदित प्राण।

स्वीली-घाम

गुलावी-पीली अंतिम धूप स्वीली-घाम कहलाती है। उस से रात का जन्म होता है ऊशा वेला रवि को जन्म देने के कारण विहान कही जाती है। हिमवंत मे जन विश्वास है कि जो आसन्न प्रसवा प्रसव के समय मर जाती है वह अंधकार के लोक से अपने शिशु-सहित इस समय धूप सेकने पृथ्वी पर आ जाती है और धूप के उड जाने पर वह भी कही लीन हो जाती है।

पतझड की सध्या थी, सूरज डूब चुके थे,
पत्ती अपने लुटे द्रुमो को लौट चुके थे,
धुँधली आभा थो गिरि के शिखरो पर छाई
कुछ कुछ देते थे बन के ककाल दिखाई,
बैठी थी निस्तब्ध वृत्त पर विहगी दीना,
छाया थी तम मे विलीन हो रही मलीना,
जो कि खोजने पर ही पड़ती थी दिखलाई,
मिटती थी आभा गिर के शिखरो पर छाई,
यह पतझड़ की साँझ और यह गिरि का कोना,
यह धीरे धीरे प्रकाश का तम मे खोना।
लख दिनान्त धरती का तारा हीन गगन से,
यह प्रकाश माँगना, मलिन धूसर चितवन से,
यह चर-अचर विहीन प्रलय का-सा सूनापन,
रुला रहा है बरबस जीवित जन का जीवन।
दूर किसी घाटी मे सौ-सौ दुख सहता सोता,
मेरे मन-सा ही तम मे एक रुक कर बहता।
खडा हुआ था मै टूटे पत्रो के ऊपर,
एक हाथ से तरु की न गी शाख पकड़ कर,
उस गिरि पर उस सध्या को था मै एकाकी,
मेरा साथी कौन रह गया था अब बाकी!
देख रहा था मै जीवन के भूले सपने,
जब न हुए थे दिन इतने एकाकी सने।

मोच रहा था मैं इतने में पत्र कराहे,
किस ने इन टूटे पत्रों पर चरण चलाए ?
क्या मुझ-सा ही कोई और दुखी है जग में ?
मुझ-सा ही खोया एकाकी जग के मग में !
जिस को सूने शिखरों पर है भाता है फिरना,
अपनी कठिन व्यथा जग से हट कर के सहना !
जो काँटों के करता आलिंगन रो-रो कर,
उन्हे मरे कुसुमों का स्नेही मित्र समझ कर !
क्या मुझ-सा ही कोई ऐसा, बन में आया ?
सोच यही मेरा मन, कुछ उत्सुक हो आया !
मृत पत्रों का देश आह ! यह जिस के ऊपर,
यह प्रकाश की छाया मरती है रुक-रुक कर !
पतझड के विशीर्ण वृक्षों का यह मरघट है,
कंकालों से भरा हुआ दुष्प्रेक्ष्य विकट है !
इस मृतकों के देश, कौन तज करके जीवन,
जीवन के सुख-दुख के हँसते-रोते चुम्बन !
आया है उपचार-विहीन व्यथा सहने को,
डूबा है चिर तम में फिर न कभी उठने को !
वह धुँधली छाया चलती धीरे दुखिया-सी,
जीवन—गंगा तट से लौट रही प्यासी हो !
जहाँ जहाँ पग धरती वह चलने को अपने,
वहाँ वहाँ से क्रन्दन के स्वर लगते उठने !

वह मेरी ही ओर आ रही दुख मे लिपटी,
　　जली हुई धूम्रावशेष ज्यो प्रेम की कुटी !
वह मेरी ही ओर आ रही मुझे देख कर,
　　यह लो ठहर गई वह साश्चर्य वही पर !
पुलकित-सी हो वह मेरे पास आ गयी,
　　यह क्या ? मेरे मन की यह कैसी दशा हुई !
वह मलीन वस्त्रो मे लिपटी पीली पतली,
　　अस्तोन्मुख शशि के नयनो की क्षीण झलक-सी !
केश-पाश बिखराए मुख पर, निज हाथो मे,
　　झरे फूल-सा एक सुकोमल बालक थामे !
उस दिन की छवि धार खडी है मेरे आगे,
　　जब मैंने बिछुडन के अन्तिम चुम्बन माँगे !
मैंने बाँह बढ़ाई खोये धन को पाकर,
　　'मुझे न छूना' बोली वह घबरा कर हट कर,
"मेरी नहीं जीवितों मे होती अब गणना,
　　मै मृत हूँ, तुम जीवित हो, मुझ को न परसना,
मै मृतकों के अंधलोक मे हूँ अब रहती,
　　जहाँ ज्योति की रेखा, सपने मे न चमकती
गोधूली के समय, शीत से व्याकुल होकर,
　　मै आती हूँ धूप सेकने ऊपर क्षण भर,
जब तुम चले गये मैंने आहें भर कर,
　　जाग बिताई रातें, गिन अवधि के बासर,

कह न सकी वह और निदारुण आह खींच कर,
समा गयी पृथ्वी में बिजली-सी गिर तरु पर!
मै दौड़ा व्याकुल हो कर उसको पुकारता,
उस मृतकों के देश कौन पर मेरी सुनता!
किन्तु पुनः कोई गोधूली उस को बन में,
लावेगी आशा है एक यही जीवन में!

आह! यह दिन भी

आह! यह दिन भी गया!
अब प्रभा पीली शिशिर के पीत पत्रो से छनी,
चिर बिदाई मॉग गायब हो रही धीरे घनी!
उड रहा है सॉझ का बिछुड़ा हुआ बादल नवल,
खर पवन से छिन्न होता बिखरता प्रति पल सदल
नील यमुना की लहर पर कॉपती अन्तिम किरण,
शून्य तट पर जमा होता अधकार शनै सघन!
अब गया यह दिन सदा को, फिर न लौटेगा कभी!
डाल से जो फूल मुरझा वह न फूटेगा कभी!

प्रेत–सुदामा

श्मसान धूम्र-सा घनाकार, छाता जब सध्या अन्धकार,
नि शब्द उमड़ता कल हीन वैतरणी जल सा निराकार,
दुर्भेद्य जाल-सा जकड़ प्राण, गाता समुद्र के रुद्र गान,
जब भूखी नागिन सी तरग, डसती तरणी के अ ग अ ंग,
औ खोल भयानक मुख, समुद्र,तरणी को मुख मे डाल क्षुद्र,

हो जाता है नभ-सा प्रसन्न, सध्या-सा नीरव निरतरग !
पर्वत को पल मे बना धूल, कर छिन्न-भिन्न तरु-दल समूल,
नदियो को कर के उदर-लीन, रोती प्रति पल वे जहाँ क्षीण !
उस समय छोड़ निज नरक-बास, प्रेत-गण घूमते हैं सहास,
अपने चरणो की चापों से करते नीरवता का प्रसार,
रौदते धरा को चरणों से, फैला फैला कर अन्धकार,
कंकालो का कर्कश स्वर कर, छाया-से मृत नारी औ नर,
गिद्धों-से धरती के ऊपर, चल पड़ते हैं ले-ले खप्पर !
उस समय एक गिरि के ऊपर, मै सोया था दिन-सा थक कर
भर आंखो मे वह अ धकार, जिस के जल में जीवन-विहार,
जगता फिर हो कर स्वस्थ सबल, पा कर के यौवन पुन नवल !
मै सोया था पर आस-पास फैला कर अपना मृत्यु-पाश,
था ताक रहा घन अ धकार ! सहसा प्राणों के तार तार
मेरे छू, कँपा दिए किस ने ? मै चौक गया, देखा मैंने,
पीला ओ !कितना पीला नर! मुझ को निज हाथों से छू कर,
उन हाथों से जिन पर पतली ऊँगली सापों--सी खेल रही,
हँसता था सूखा कठिन हास, उस की आँखों के आस-पास!
दीखते मृत्यु के दन्त-चिन्ह, गह्वर नागों-से दंत-चिन्ह !
बाकी सारा मुख और गात, था पतझड़ का-सा पीत-पात !
मेरे कानों में झुक कर वह, रुक गया वह आह ! जैसे कुछ कह,
सुन कर उस का भीषण सँदेश, झर-झर मेरे सित हुए केश !
वह बोला-'प्रेत तुम्हारा मै, लेने को तुम को आया मै,

मृत्यु ने बुलाया है तुम को, अब छोडो इस प्रिय धरणी को!
यह कह उस ने दी खोल तरी, मुझको लेकर बह चली तरी !
तरती कितने तम के सागर, अह कित ने लोकों के भीतर--
जाती प्राणो मे पीडा-सी, खेलती मृत्यु की क्रीडा-सी,
मेरा साथी चुपचाप खडा, मेरे प्राणो में आँख गड़ा,
देखता रहा, करता जर्जर भीषण ज्वर-सा मेरा अंतर,
घूमता चक्र,हा प्राणो पर, कुटिल वज्र तरु के ऊपर,
गिरने को उसे मिटाने, को कर उस नष्ट, सुख पाने को !

मृत्यु-नगरी

मृत्यु ने अपने नगर मे देख मुझ को,
कहा मेरे पास आ कर रोक मुझ को,
हे धरा के पथिक ! हे विश्रान्त मन !
कर रही स्वागत तुम्हारा मै मरण !
और मै ने मृत्यु के सकरुण नयन मे सुधा का बास देखा,
जिसे जीवन भर रहा मै खोजता संसार मे.
मृत्यु बोली प्रेम से गीले वचन,
हे पथिक ! हे श्रान्त पद नीरस नयन !
क्यों धरा को गोद तज कर तुम यहा भूल करके आ गये ?

नदी-तट पर

मुझे उठाकर कौन, नदी-तट पर ले आया ?
चारो ओर धुएँ का सागर लहराता है,
हुई चेतना भ्रष्ट न अब कुछ दिखलाता है,

जलती है या भस्म हो चुकी है यह काया ?

ज्वाला

हा मेरे दुर्बल प्राणो में, किस ने दी सुलगा ज्वाला ?
मेरा उर मरघट करती है, यह पिशाचिनी विकराला
मेरी लज्जा, मेरी शुचिता ! मेरा सुख वह फूँक चुकी,
मेरा खून चूमती जाती, जलती है अनत ज्वाला !

काल-सुनार

मुझे ज्वाला मे न डालो, मै न स्वर्ण, सुनार हूँ !
मत जलाओ, मत जलाओ, मै न स्वर्ण, सुनार हूँ !
समझ कर भारी मुझे-मत भ्रम करो,
देख मेरी चमक मत नादान हो !
इस धधकती आग मे मुझ को न डालो,
मै न लौटूँगा जहाँ से हे बचा लो !
भस्म कर मुझ-को, तुम्हें क्या लाभ-होगा ?
मुझे ज्वाला में न डालो, मै न स्वर्ण सुनार हूँ !

हरी-धरा

पतझड़ देख अरे मत रोओ वह वसन्त के लिए मरा,
शशि को गिरते देख न रोओ, वह प्रभात के लिए गिरा,
मिटा-बीज मिटता जाता है, यह बादल रोता-रोता
पर देखो होती जाती है सुख से कितनी हरी धरा !

दैव का आघात

कभी मेरे ही स्वरों में रो पड़ोगे मित्र तुम भी

कौन अब तक रह सका है, इस धरा पर सदा हँस ही ?
कौन है वह कभी जिस के दृग नही सुख से भरे ?
कभी जिस के वृन्त सूने छोड़ कर न कुसुम झरे ?
सह रहा हूँ आज मे यदि, कल तुम्हे, सहना पड़ेगा,
दैव के आघात से कोई नहीं जग मे बचेगा !

प्रिय शम्भु

मै प्रिय शभु, कई वर्षों से बहुत दुखी हूँ,
सहता तन के क्लेश, और मन मे चिता की
ज्वाला से जलता रहता, जीता विष पी-पी,
मै न हाय! हँस पाया हो कर कभी सुखी हूँ ?

कोऽहम्

कौन हूँ मै, हे न यदि मै हूँ करुण उजडी हसी!
मै नयन हूँ दीन जिस मे वेदना तीखी बसी,
ज्योति रिंगिण-सा मरा, निस्तेज-सा पुरुषार्थ हूँ,
मै हृदय बुझता हुआ, कुररी-मुखी अनुराग हूँ !

निशेष

स्नेह मेरा जल चुका अब, शलभ भी हैं जल चुके,
भाग्य के नक्षत्र मेरे गगन-तल से ढल चुके,
अब प्रकाश न शेष मुझ में, न कुछ ऊपर से मिलेगा,
प्राण को जो शान्ति देगा वह समीरण कब चलेगा?

पतित-पावन

हाय ! कौन समझेगा मेरी इन आँखों का पानी ?

मेरी पूजा सफल करेगा, कौन स्नेह का दानी ?
कौन बसेगा स्वर्ग छोड कर, मेरे साथ नरक मे ?
किसे देख कर पुण्य बनेगी, यह पतितों की रानी,

जागरूक

मेरा संचित जीवन का धन, चुरा न कोई ले जाए,
मेरी शान्त अचानक छू कर जहर न कोई कर पाए,
जागरूक रहता इस भय से. निशिदिन मेरा प्रहरी,
मेरे मधुर स्वर्ग मे कोई, नरक न जिससे लाए,

पादप-संसार

एक पादप है यह ससार, लगे हैं जिस में पत्र हजार !
जिसे देने को श्री का दान, लौटता है मधु रितु प्रतिबार,
एक पत्ता नादान मनुष्य, न जिस को अपना ज्ञात भविष्य
कॉपता रहता है दिन रात, गिर पड़ेगा जाने किस बार
एक पादप है यह ससार !

सुन्दरता के विस्तार मे मनुष्य जीवन की अवस्थानुकूल बदलती हुई शरीर सापेक्ष मनोवृत्तियाँ भी योग देती है। बचपन सरलता मे सौन्दर्य्य देखता है, यौवन रक्त की लालिमा, हृदय की धड़कन और रूपों की चारुता मे उसके दर्शन करता है। शक्ति, इस सौन्दर्य की विशेषता है। वृद्धावस्था, शक्तिहीनता के कारण विचारो की पुष्टता मे सौन्दर्य देखती है। यौवन स्वप्न देखने मे सुख पाता है, स्वप्न को सत्य समझ कर धोखा खा सकता है। बुढापा जाग्रति को भी स्वप्न, और यौवन के सत्य को भी धोखा मान

लेता है। यौवन जिसके लिए कहता है—

"सपना है, सच है, सपना है, पर सपने में,
जो सुख होता, वह हो सकता क्या जगने मे ?
सचमुच है मृग मरीचिका पर कितनी सुन्दर है !
अमर नहीं है, पर कितने स्वर्गों की घर है !"

('नन्दिनी' से)

उसी के लिये वृद्धावस्था का कहना है—

"हृदय, रूप-शोभा ही तो तुमने चाही थी ?
हृदय, वासना ही तो तुम को भाई थी !
विष को अमृत समझाने मे क्या चतुराई थी ?
सोचो तो तुमने क्या व्यथा नही चाही थी ?"

('नन्दिनी' से)

यौवन कहता है माया ही सत्य थी, बुढ़ापा कहता है वह तो छाया थी, नादानी थी। यौवन कहता है शरीर मे ही सुन्दरता होती है, बुढापा कहता है सौदर्य उसमे है जो प्रलय मे स्थिर वस्तु है। यौवन ईश्वर को भुला कर वासना की ज्वाला मे भस्म होने मे, अपने ही सुख से क्रन्दन करने मे सुख पाता है।

मेघो मे ज्यों इन्द्र धनुप की छवि मन मोहन,
इस विषादमय जीवन मे ऐसा ही यौवन !
शीत शिशिर मे सूरज की सुकमार तपन--सी
प्रिय लगती हैं किरणें इस मादक यौवन की,
मेघो की लाली-सा यह क्षण भर ही का धन

इन्द्र धनुष की छाया-सा है, यह नव यौवन !

बुढापा वासनामय यौवन की उपेक्षा कर परमात्मा को शरण जाने मे शान्ति पाता है—

चाह नहीं है अब मेरा जीवन शीतल है,
द्वेष नहीं है, अब यह उर हो गया सरल है,
गई वासना, गया वासनामय यौवन भी,
मिटे मेघ, मिट गया आज उनका गर्जन भी,
मै निर्बल हूँ पर मुझको ईश्वर का बल है.
चाह नही है अब मेरा जीवन शीतल है।

योवन वर्षा मे वसन्त को पाता है, शिशिर मे हरे पत्ते देखता है—

"जग लघु है अनन्त जोवन, जीवन है अनन्त यौवन!
परमानद पूर्ण है जीवन, जीवन है अनन्त यौवन ।"

बुढापा वर्षा की बाढ के बाद आने वाले शरद मे शान्ति का और पत झड मे जीवन, का सदेश पाता है

"पत झड़ है, आस-पास, पीले दल झरते,
हरे हरे गेहूँ पर हिल-हिल कर कहते,
झरना है जिनको वे पल-पल है झर रहे,
बढ़ना है जिनको वे पल–पल है बढ़ रहे।

(चन्द्रकुँवर)

यौवन, प्रसार-विस्तार मे सौन्दर्य देखने का अभिलाषी है वृद्धत्व मूल को पकड़ना चाहता है उसे शाखा-प्रशाखाओं की अपेक्षा जड अधिक रुचती है। वह परिधि को छोड कर केन्द्र से प्रेम करने लगत।

है। यौवन सुमन है बसन्त है, वृद्धत्व बीज है, शिशिर है।

ऐसी स्थिति मे यही कहा जा सकता है कि समय-समय के अनुकूल वस्तुओं के प्रति सुन्दरता की भावना मे भी अन्तर आता जाता है जो चीज आज सुन्दर समझी जाती है, कल वही असुन्दर ठहर सकती है, जो एक देश मे मान्य है वह उसी समय अन्य देश मे अमान्य हो सकती है, जो एक को भाती है वह दूसरे को अप्रसन्न कर सकती है। रुचि की भिन्नता लोक का धर्म है।

सौन्दर्य की उत्पत्ति तथा अनुभूति पहले पहल कब और कैसे हुई इस का कोई एक सन्तोषजनक उत्तर बुद्धि कभी नहीं दे सकेगी। हृदय शायद किसी हद तक दे सके। हृदय, भावनाओं का सागर है, और भावनाएं सौन्दर्य की जन्म-दात्री है। उस समय ही सौंदर्य का जन्म हुआ समझना चाहिये जिस समय मनुष्य को हृदय मिल गया। हृदय, हृदय से खिचता है। सौन्दर्य, हृदय का अभिन्न गुण है। इसलिए सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना सहज स्वाभाविक है।

सौन्दर्य की अनुभूति मे इन्द्रियों का सहयोग भी आवश्यक है ठीक उसी प्रकार जैसे चेतन मन और उपयुक्त परिस्थिति मे आलम्बन केन्द्र की उपस्थिति कम से कम एक बार अवश्य अपेक्षित है, पीछे से स्मृतियाँ, कल्पनाएँ, भावनाएँ काम कर सकती है। इन्द्रियाँ, सौन्दर्यानुभूति मे आदान-प्रदान रूप साधन है। सौन्दर्य अनन्त है। वह अनत प्राण-स्पदन और उस की अभिव्यक्ति से एक साथ ही व्याप्त है। वस्तुओं मे, इन्द्रिया मे, सौन्दर्य की प्रतीति इसलिए होती है कि किन्हीं प्राण स्पदनों की अभिव्यक्ति उन मे हुई है और अब

उन से हो रही है। सूर्य्य की जो किरणे मणि मे, जल मे पहले पडी वे अब उन से विकीर्ण हो रही है। अनन्त ऐश्वर्य के प्रकाश को विकीर्ण करने वाली सृष्टि इसलिए और भी अधिक सुन्दर हो जाती है कि उस प्रकाश को चेतने वाली चेतना अपनाती है—

'जड़ता की माया थी चैतन्य समझ कर हम को'

–प्रसाद–'आँसू'

इन्द्रियाँ, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मे, अनुभूति मे कुछ उसी ढंग से काम करती है जिस ढग से भाषा मे शब्द और उन के ध्वनिचित्र-अर्थ, रस की अभिव्यक्ति अनुभूति कराने मे काम कर ते है।

सौन्दर्य की अनुभूति का सबन्ध चेतना से है। चेतना का बाह्य व्यक्तीकरण ही सौन्दर्य की उपस्थिति कराता है। चेतना कभी इन्द्रियों द्वारा तो कभी कल्पनो का सहारा लेकर सौन्दर्य की स्वतत्र अनुभूति करती है। अनुभूति की बह अवस्था जिसमे इन्द्रियां योग दे रही है सरल सु बोध और सुलभ है—

'रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु, निरालंब मन चकृत धावे,
सब विधि अगम विचारहि, ताते सूर सगुण लीला पद गावे'

विश्व मे चेतना स्थूल के सहारे व्यक्त होती है, इन्द्रियाँ स्थूल से अपना सबध आसानी से जोड लेती है।

चेतना का सूक्ष्म या मुक्त रूप, कल्पना अनुभूति से गम्य है, किन्तु कल्पना अनुभूति का मूर्त रूप, स्थूल वस्तुओं के मूर्तरूप से सूक्ष्मतर है—

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप,
पुहुप वास थै पातरा ऐसा तत्त अनूप।

इसलिये सौन्दर्य की स्वतंत्र अनुभूति के लिए प्रयास की आवश्यकता होती है—

हिरण्य-गर्भ

जगती में आती कितनी रितुएँ, पर मधुरित सी और नहीं,
गाती पुलकित हो विहगी कितनी, पर परभृत-सी और नहीं
उसी गगन में पली चाँदनी, तारे जिस मे भरे हुए,
हुई मोहिनी वह क्यों इतनी ? इस रहस्य को कौन कहे ?
ओ सुन्दर के भीतर सुन्दर ! प्राणों की वाणी मोहन !
हे सुस्पष्ट । हे सदा अगोचर, विश्व सिन्धु के अमृत कण !
तुम्हे खोजते है जन कितने, निशि-दिन हे पावन धन !
किन्तु किसी की ही करते तुम, सफल साधना मन मोहन !

(चन्द्रकुँवर)

प्रयास की सफलता मे विशेष मानसिक तृप्ति है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए स्थूल की सीढ़ी पहले पार करनी होती है—

ज्ञान कहे अज्ञान बिनु, तम बिनु कहे प्रकास,
निर्गुण कहे जो सगुण बिनु, सो गुरु तुलसीदास।

स्थूल अवस्था मे वस्तुओ के बाह्य रूप रंग आकार पर ही ध्यान पहले जाता है, परन्तु मानसिक विकास के होते ही वस्तुओं मे व्यक्त होने वाली चेतना पर भी ध्यान जाता है—

सगुण की सेवा करो, निर्गुण का करि ज्ञान,
सगुण- निर्गुण थै परे, तहैं हमारा ध्यान।

धीरे-धीरे चेतना की अनुभूति और उस की अभिव्यक्ति ही प्रधान हो कर बाह्य सीमाओं को धूमिल बना दे सकती है। उस अवस्था मे नाम सज्ञाओं का महत्व नही रह जाता। सर्वनाम, सकेत, प्रतीक प्रधान ध्वन्यात्मक लाक्षणिक भाषा की प्रधानता हो जाती है और तब अभिव्यक्ति रहस्यात्मक (रभसात्मक) आनन्द स्वरूप सूक्ष्म स्पन्दनो की होती है। और अभिव्यक्ति की शैली जब सिद्धान्त रूप मे स्वीकृत हो जाती है तब सिद्धान्त रहस्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। और सज्ञा बहुला वह प्रणाली जो रूप आकार आदि की सीमाओं की स्पष्टता को भाषा-भावना आदि मे भी प्रधानता देकर बाह्य तत्वों को प्रमुख रूप से अपनाती है रहस्यवाद से भिन्न सघर्ष से 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारी जाती है।

वस्तुओं के बाह्य रूप-रग, आकार आदि को ही सब कुछ न समझ कर जब हम उन के आतरिक सौन्दर्य को भी, उन के बाह्य सौन्दर्य मे देखने लगते है, तब हमारे शरीर के अन्दर प्राणों मे विशेष उन्मेष होने लगता है। उस समय शारीरिक बधन, प्राणो को भले ही रुचिकर न हो किंतु जीवन मे आवश्यक वस्तु स्थिति बन कर वह सदैव रहेगा।

विकास पूर्ण बुद्धि जब भेद भाव को छोड़ कर अनत चेतना को ही सर्वत्र देखने लगती है तब हृदय आनंद की अनुभूति करने लगता और मन भी सौदर्य मे लीन हो जाता है।

चेतना की यह व्यापकता ही जीवन की सत्य प्रतिष्ठा है। फिर ऐसी अवस्था में कौन कह सकता है कि सौन्दर्य आनद तथा सत्य तीन अलग-अलग अनुभूतियाँ है। दार्शनिक जगत मे जिसे अस्ति, भाँति, प्रिय,- सत् चित् , आनद, दि टू , दि गुड, दि ब्यूटिफुल, अथवा सत्य, शिवम्, सुन्दरम् की शब्दावली से व्यक्त किया जाता है वह सत्य का विरूपाक्ष शिव नहीं, कल्पना की चन्द्र-कला से युक्त सुन्दर शिव स्वरूप है। इसी सुन्दर शिव स्वरूप की सत्यता के लिए पुराणकारों ने सत, रज, तम के मूर्त प्रतीक विष्णु ब्रह्मा और महेश की त्रिमूर्ति सृष्टि की है। पश्चिम की ट्रिनिटी इसी चेतना की अभिव्यक्ति है। व्यावहारिक जीवन मे उस की सार्थकता के लिए काव्य सगीत तथा नृत्य है। काव्य की चेतना मे विराट् तत्व को अपनाने वाले चन्द्रकुँवर ने जीवन की नश्वरता मे आनद का शाश्वत स्वरूप पहिचान कर प्रेम, सत्य और छवि तथा प्रकृति के बीच मानव जीवन की स्थिति दिखलाई है।

हिम-माधुरी

माधुरी मेरे हिम गिर की !

मधुर हँस निर्मल नभ के पास, उमड झरनों मे सरव सहास.
पीठ पर बिखरा नीले बाल, डाल उर पर सुर-धुनि की माल,
बिछा गिरि-तल पर निज अचल, देखती हो पथ को प्रति-पल,

माधुरी मेरे हिमगिर की !

सीच नित शिशु विपिनो के प्राण, लताओं में विकसा मुसकान,
सुशीतल शैल बनों के बीच, भुला हरिणी को गा-गा गान,

कुसुम-सी तज सु-मधुर नि श्वास, नचाती अलि को चारो पास,
माधुरी मेरे हिमगिरि की !

पकड़ लम्बी अलकों के छोर, किसी आशा से बनी विभोर,
गुफा से प्रेयसि तुम प्रति वार, नील नभ मे क्या रही निहार,
मेघ गति से कर रहा गमन, उतरता आता नव सावन ?
माधुरी मेरे हिमगिरि की !

धार सुरभित वासन्ती वास, हृदय मे भर सु-मधुर अभिलाष,
बना माला कर कुसुम चयन, बिछा कुंजो मे मृदुल शयन,
चॉदनी-सी हॅस अपने आप, सुन रही हो किस की पद चाप ?
माधुरी मेरे हिमगिरि की !

तुम्हारी ज्योत्स्ना मे चुपचाप, डूब जाता अपलक जीवन,
उच्छ्वसित होकर अपने आप, बिखर जाता स्वर का बंधन,
विकल हो कानों के पास, न जाने क्या कहता यौवन !
माधुरी मेरे हिमगिरि की !

तुम्हारे साथ अनेको प्रात, मनोरम दोपहरें निर्वात,
अनेकों बीती संध्याएँ; अनेकों रातें पुलकित गात,
न जानें कितने प्रिय जीवन, किए मैं ने तुम को अर्पण,
माधुरी मेरे हिमगिरि की !

प्रेम

किस के सरस अपांगों में तुम छिपे हुए हो ?
ओ प्रेम, प्रेम मेरे !
किस के मृदुल अधर पर आ तुम रुके हुए हो ?

ओ प्रेम, प्रेम मेरे !

किस के नयन नलिन में तुम गूँजते निरंतर ?

ओ प्रेम, प्रेम मेरे !

किस के हृदय-सदन में तुम पल रहे निरंतर ?

ओ प्रेम, प्रेम मेरे !

मै ने कभी न देखी वह अप्सरा कुमारी !

वह सुन्दरी नवेली !

मेरे लिए तुम्हें जो है पालती हृदय में

बन मे कही अकेली,

किस के हृदय—सदन मे तुम पल रहे निरतर ?

ओ प्रेम ! प्रेम मेरे !

पहली किरण

मै हिमालय पर गिरी पहली किरण हूँ !

मै धरा को देखती पहली किरण हूँ !

मै हिमानी की प्रथम अनुराग-रति रेखा सुनहली,

सूर्य की मै दूतिका पहुँची प्रिया के पास पहली !

मै मृदुल चंपक कली हूँ, सूर्य ने जिस को गिराया,

और वसुधा के कपोलो पर गिरी रवि प्रेम-काया !

पवन से बुझने न वाली ज्योति-श्वासा,

दीप की सुन्दर शिखा मै ज्योति-आशा !

कोयल

हे मेरे अन्तर की कोकिल ! बोलो ! बोलो ! बोलो !
हरे पल्लवों मे एकाकी गाने वाली बोलो ! बोलो !
प्रमुदित चित हो, पुलकित अति हो, हे कोकिल मतवाली,
गा मुखरित कर दे मधुवन की आली डाली डाली।
वह सुकुमार प्रवासी वन में चन्द्र-किरण-सा आता,
कुछ दिन को वह लता रसीली, पेड़ तरुण कर जाता,
जिसे देख फूलों में मधु की बूँदें प्यासी मरतीं,
वह वसन्त मेरी दूर्वा पर चल कर जब है आता,
तब स्वागत करने को कुछ तो मेरी वन-श्री बोलो !
हे मेरे अन्तर की कोकिल ! बोलो ! बोलो ! बोलो !
हे मेरे अन्तर की कोकिल ! कूको ! कूको ! कूको !
हे मेरे गिरि वन की कोकिल ! कूको ! कूको ! कूको !
हे मेरी कलियों की तृष्णा ! बोलो ! बोलो ! बोलो !
हे मेरे अन्तर की कोकिल ! बोलो ! बोलो ! बोलो।

(२)

हे प्रेयसि ! इस मधुवन में भी हो फूलों का पीत प्रकाश,
हो अनन्त में ताराओं का बिखरा सुमधुर उज्ज्वल हास,
चित्रित बादल-सा हिलता हो, किरण-करों से शरदाकास,
लौट रही हो पागल सी बन, जब मेरे लघु उर की श्वास
सोते हों मेरे नयन श्रान्त, आवें यदि मेरे कृष्ण कान्त,

गाना स्वागत के अमर गान, कोकिल चिर जागर्ति! देवि! प्राण!
वह अमर वेलि से सरस गान, वह सरस गान छतनार गान,
कोकिल! प्राणों की देवि! प्राण! गाना स्वागत के अमर गान,
गुञ्जित कर दो सारे जग को, पुलकित कर दो हृदय-हृदय को,
कपित स्वर से आज लुभा दो, इस मधुवन के तरुण विहग को,
इस प्रकार अनजान आज बन, मान करो मत नादान!
रूठो मत रूपसि उस से ही, जो यौवन का जीवन प्राण,
जिस के मदिर रूप के तुम ने गाये है बन-बन मे गान,
वही बन बधू द्वार तुम्हारे, आई उस को दो सम्मान!

जीवन-सहचर

तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन!
प्राण-प्राण, जीवन के जीवन!
निशि के स्वप्न, जागरण दिन के,
गीत अधर के, चिन्तन मन के,
तुम्हीं विपय मेरे दर्शन के,
भरे तुम्ही से मेरे लोचन!
तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन!
मेरे दुख के करुण अश्रु-कण,
मेरे सुख के हास सुशोभन,
तुम को ही साँसो मे क्षण-क्षण,
पी करती मै जीवन धारण!
तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन!

चिर-प्रिय सहचर सूनेपन के,
प्रिय बसन्त मन के मधुवन के,
लुब्ध भ्रमर मेरे यौवन के,
शान्त जरा के सर्व समर्पण!
तुम जीवन-तम-किरण प्राणधन!

श्री-सूक्त

माँ कमले! मेरी अंजलि रत्नों से भर दो!
मुझ दरिद्र को तुम धन से परि पूरित कर दो!
तिरस्कार से मुझे आज जो देख रहे हैं,
तुम उन की आँखो मे मुझे पुन आदर दो!
वह वैभव जो स्वर्ण—पंख फैला कर अपने
चला गया है श्री—विहीन कर मेरे घर को
उसे बुलाओ मेरे घर के बीच बसाओ,
पृथ्वी की मान-प्रतिष्ठा के उस सहचर को!
रहो अस्थिरे, सुस्थिर हो कर मेरे घर में,
मुझ को अपनी चिर-सान्निध्य कृपा का वर दो!
पहिन स्वर्ण के अलंकार, माथे पर अपने,
रत्नों का किरीट रख, झिलमिल-झिलमिल करती,
जिस दिन तुम मेरे घर में बसने आओगी
शोभा की लहरो से जल-थल नभ को भरती,
किस प्रकार हो प्रणत करूँगा मैं अभिनदन!
कर पाऊँगा कैसे देवि, तुम्हारा वन्दन!

आँसू से पखार कर कोमल चरण तुम्हारे,
दूँगा मै तुम को अपने शोणित का चन्दन !
हे कुल की शोभा, तुम मेरे कुल मे आओ !
पृथ्वी मे मेरे कुल को तुम प्रथित बनाओ !
देवि! व्यर्थ है विद्या! व्यर्थ सुशोभन वाणी !
तुम हो सकल सृष्टि के भव्य गुणो की रानी ,
तुम हो दृष्टि अध की, तुम हो कुरूप की शोभा ,
तुम हो मूक कठ की मुखर गिरा कल्याणी !
तुम प्रसन्न हो तो दुख मे भी शोक नही ,
माँ तुम को खोने पर फिर यह लोक नही है !
मिलती हो तुम दृढ़ शरीर को दृढ़तर मन को !
कैसे जननि मिलोगी तुम मेरे जीवन को !
क्षीण देह ले कर के मै पथ देख रहा हूँ ,
जीवन की शोभा दो तुम आ मेरे तन को !
मेरे मस्तक पर माँ वरद हस्त निज धर दो,
माँ कमले ! मेरी अंजलि रत्नों से भर दो !

ओ रवि

ओ रवि, जीवित करो मुझे, मेरे मस्तक को
भरो तरंगों से आलोक और गीतों की ,
दूर करो इस अधकार को जिस ने मेरी
दृष्टि निराश बना दी कुत्सित स्वप्न दिखा कर ,
अंग दीन हो गये हाय, मेरी आशाएँ,

क्षीण हुई ओ रवि, मुझ को अपनी किरणो मे,
जाग्रति दो, शोभा दो, सुख दो, और शक्ति दो,
मुझे जगाओ जीवन के कर्तव्य क्षेत्र मे,
जहाँ वज्र-आघात सहे जाते है हँस कर ही ;
जहाँ निराशाएँ जीवन के आगे झुक कर
बन जाती हैं आशाओ की भी आशाएँ !

हे तरुण तपस्वी

हे उत्तर के श्वेत केश चिर तरुण तपस्वी !
हे पृथ्वी के निर्मलतम धन ! हे वसुधा की
स्वर्ग भूमि ! हे गंगा की निर्मल लहरों के
पिता हिमालय ! मेरी वाणी को प्रशस्तता
औ, शुचिता दो ! अपने उज्ज्वल प्रासादों मे,
सूर्य-चन्द्र के दीप जिन्हें आलोकित करते,
जिन में अमरो के बालक प्रिय क्रीड़ा करते !
सुर-कन्याएँ जहाँ मधुर बाँसुरियाँ ले कर
करतीं रहती कोमल ध्वनियाँ, वहाँ मुझे भी
रहने दो, मुझ को भी वे प्रिय स्वर सुनने दो,
स्वर्ग लोक की उस पावन शोभा से अपने
नयनों को मुझ को भी हे पावन ! भरने दो !
वह चिर चंचल देव-कुमारी जो कानों मे
मेरे कर मृदु गुंजन, प्रेम भरी बातों से
हृदय प्रफुल्लित कर मेरा, सहसा ही मुझ को

छोड चली जाती है अपने पख खोल कर,
नील गगन मे वायु तरंग सदृश मृदु हँस कर;
उस सुर-कन्या कथित प्रेयसी को पाने को
बैठ तुम्हारे किसी शृग पर मै यौवन भर
कठिन तप करूँगा, रोने से यदि उस का उर
पिघलेगा, मै रोऊँगा रजनी भर जग कर,
यदि हँसने से वह आएगी मै निर्झर-सा
सदा रहूँगा हँस-हँस जीवन पथ पर चलता,
वह चाहेगी यदि कमलो का हार पहिनना,
अपने मानस के निर्जन तट पर धीरे से
उतर, शान्त जल में चुपचाप खिले कमलो को
तोड़, गूँथ दिन भर माला गुंजित छाया मे,
फिर सध्या के समय उस के चरणो पर
रख दूँगा, जैसे पृथ्वी अपनी शोभा को
रख देती सध्या के कोमल चरणो पर!

यम-यमी-संवाद

पुष्पित तरु के नीचे नत-मुख किसी ध्यान मे!
मग्न-रूप हे यम, मेरे चुम्बन से जागो,
आलिगन से जागो!
मेरी बाँहों के बधन से सीख निष्ठुरता
मेरे व्याकुल अधरो से मदान्ध आतुरता
भग्न करो लतिका-सी मृदु मथित वापी-सी

लीन करो मुझ को अपने-
यौवन में, जागो
हे यौवन-धन जागो !

यम

विकृत-वेष यह, ओठों में यह-
कैसी ज्वाला !
आँखों में दारुण विजली, अंगो में बहती
ये कैसी बाढ़ें मर्यादा-हीन गरजती !
बहिन, डगमाती भू-कम्प--से
शैलों की श्रेणी-सी, बाहें फैलाए
तुम आती, लौटो स्नान कर शीतल जल से
करो प्रार्थना स्वास्थ्य के लिए वरुण देव की !

यमी

हे यम, स्वस्थ नही मैं, हे प्रिय स्वस्थ नहीं मैं,
अपने शीतल कर से यह मस्तक छू देखो,
मेरे वक्षस्थल के भीतर, प्रवल वेग से—
उमड़ रहे दावानल का हर-हर रव सुन कर-
दया करो मुझ पर, मेरे अंगों पर बरसो,
हे शीतल घन, मेरी ज्वालाओं पर बरसो,

यम

दूत वरुण के छिपे हुए पत्रों के पीछे

खडे भूमि पर, खड़े पवन मे,
खड़े गगन-में,
सुनते हैं उर-उर की कंपन, देख रहे हैं
उर उर के भावों को--
ओ अभागिनी नारी!
किसी और को वरण करो मै तो भाई हूँ!
हैं धर्मज्ञ वरुण उत्पथ चरणों से जीवन
हर लेती क्रूर दृष्टि उनके नयनो की!
किसी अन्य को भरो सुभद्रे, निज बाँहों मे,
लिबुज[1], वृक्ष को कर देती है जैसे परि पीड़ित,-
मुझे स्वसे, अपना पितृव्य, पूज्य जन जानों!

तरंगिणी

वह तरगिणी, मेरे जीवन की तरंगिणी!
तुम्हे सीचनी है मेरी निराश इच्छाएँ,
तुम्हें पूर्ण करनी हैं प्राणों की भिक्षाएँ,
तुम्हें सरस करनी हैं मेरे दुष्ट भाग्य की
दावानल से मुझे दी हुई कटु शिक्षाएँ,
तुम्हें हरी करनी है मेरी झुलसी धरणी
हे तरगिणी!
मेघ न तत्पर हो यदि नीर मुझे देने को,

---

[1] लता

वज्र रहे सन्नद्ध सदा ही यदि गिरने को,
मै न मरूँगा, मै न मरूँगा यदि मूलों को,
मेरी मिलता रहे तुम्हारा रस पीने को,
हरित रहूँगा तुम्हें परस हे जीवन, जननी
हे तरंगिणी !

बैठ तुम्हारे शोभन पुलिनों पर जीवन भर,
मै दृग मूँद सुनूँगा लहरों के नव-नव स्वर,
देखूँगा उगते शशि को, उडते मेघो को,
देखूँगा तरुणी लहरों के नृत्य मनोहर,
पीऊँगा छवि अञ्जलियाँ भर-भर कर अपनी
हे तरगिणी !

जल मे आधे डूबे किसी विपिन के भीतर,
दूर विश्व से अपना सुन्दर नीड़ बना कर,
सजल पवन के स्पर्शों से रोमाचित होती,
विकल हर्ष से निशि दिन विह्वल स्वर उड़-उड कर,
कूकेगी मेरी आशा बन तरु-विहगिनी
हे तरंगिणी !

मेरे भाव फूल बन, भर देगे पुलिनो को,
मेरी सुरभि मधुर कर देगी सलिल कणों को,
मेरा हृदय स्वच्छ समतल बन कर कर देगा,
शिथिल तुम्हारी लहरो के चंचल चरणों को,
मेरे नयन तुम्हें कर देंगे शोभा अपनी

हे तरंगिणी !

आओ गिरि शिखरों पर स्वच्छ ध्वजा फहराती,

गहन घाटियों मे सवेग शुचि वस्त्र उडाती,

आओ उन औषधियों का रस ले अन्तर मे,

जिन से मृत प्राणों में शक्ति नई फिर आती

कर देती जो तरुण, शुष्क फूलो की अवनी,

हे तरंगिणी !

मुझे घेर कर करो मधुर कलरव लहरो का,

मुझे पिलाओ मधु अपने निश्छल अधरो का,

मुझे डुबा अपने निर्मलतम अमृत--ह्रदो मे,

रूप-कठ दो नन्दन मे गाते अमरो का,

खेल-खेल मेरे जीवन के शून्य तटो से

मुझे हँसाओ !

हे निर्जन की व्यथा सगिनी,

हे तरंगिणी !

२४ अगस्त १६४६ ई०

गंगा से

जननि, तुम्हारे तट पर ही जब भूखी ज्वाला,

मुझे भस्म कर पी जावे धू-धू कर जननी,

घने धुएँ से घिरी रुद्र-दृग-सी विकराला,

और प्राण ले कर मेरे, जब सुख से हँसती,

मृत्यु चले चिर अवलोक को विद्युत—गति से,

छोड़ धरा पर मेरी दुखिया जननि बिलखती,
छोड मुझे जब अग्नि तुम्हारे पावन तट से,
धूम्र लीन हो उड़ जावे जगती के उर पर,
मॅडराती, गिद्धो के वृहत् परो से सट के,
तब माँ, तुम अपनी जल की शय्या से उठ कर,
मेरी धूलि, चिता से अचल मे भर,
शीतल करना मुझ को अपने उर पर धर कर।

सुर-सरि

मै न रहूँगा बन शिव शंकर, नग्न-नग्न हिम के शिखरों पर.
संग हीन सूने अम्बर पर मै न रहूँगा जग से ऊपर,
कालकूट अपने उर पर धर, मै न रहूँगा बना हे अमर,
मृत्युदेव मुझ से न डरें, मै उन से डर जाऊँगा मर,
मै न रहूँगा बन शिव शकर? सुर-सरि को अपने सिर पर धर,
क्या फल पाते है शिवशकर? क्या पी पाते वे जल पावन?
क्या लख पाते वे पावन तन? मेरा तो पवित्र होता मन,
सुर-सरि के ही वक्ष मे मरण, मै न रहूँगा शिव शंकर बन।

मेरे पुरुखे

मेरे पुरखे उस शाखा में पीते है यम के साथ सोम।
उन के आनदित नृत्यो से पुलकित हैं तरु के रोम रोम,
जीवन की चिन्ता से विमुक्त वे देव गणों से निरवसाद,
फिरते रहते, पाते निशि दिन जीवन की शुचिता का प्रसाद।
सुनहले केश, नीली आँखे, उज्ज्वल वस्त्रों से ढके अ ग,

वे आ-आ मेरे स्वप्नो में कर देते निद्रा-मोह भंग,
वे कभी दीख पडते हँसते हिमगिर के शिखरों पर निर्मल,
उन से मिल हँसते रहने को, मेरा उर हो उठता विह्वल !
सरि के तीरो पर जहाँ कही, रहती हैं छाहें रम्य शीत,
वे वहाँ वहाँ गाते रहते मिल कर अपने आनन्द गीत,
चाँदनी-रात मे फूलो मे नि शब्द नाचते अविश्राम,
वे कभी दीख पडते मुझ को करते शशि को हँस-हँस प्रणाम,
धर मृदुल वंशियाँ अधरों पर, वे कभी सुनहली किरणो मे,
बह जाते, भर निज गीतों की आकुलता मेरे कर्णों मे,
कैसा होगा वह पुण्य दिवस, अपने पुरखो के साथ-साथ
जब नाचूँगा जल-थल में आनंद--मग्न अश्रान्त गात !
१६४२ ई०

मेरे साथी

वे परिचित मेरे बचपन के एक एक कर चले गये,
वे सपने मेरे जीवन के एक एक कर दले गये,
हृदय टूटता गया, दृगो ने किन्तु न छोडी आशा,
हाय न आना था उस सुख को, आई सदा निराशा !
आज शक्ति बल खो जीवन के पथ पर बैठा थकित हुआ !
इतना दुख था इस अदृष्ट में, देख रहा मै चकित हुआ !
१६४२ ई०

एक दोस्त

एक पहाडी के मस्तक पर पड़ी शिलाओ

भर, बनो से आ रहे इस चमकते—
विदेशी को देख क्रोधित सिंह—सा
गुफा से बाहर निकल कर गरजता !

चींटी

ऊँची ऊँची खोहों में दुर्गम सेमल की
रहती कुछ खूँखार चींटियाँ अफगानों सी,
लम्बी तगडी लाल-सुर्ख बन्दूके ताने,
छुरियाँ लटकाये दर्रों पर पहरा देती,
देख दूर से आता दुश्मन मच जाती है—
उन में बड़े जोर की हल चल—दर्रे दर्रे
के आगे हो जाती जमा लश्करें उन की,
बड़े गौर-से दुश्मन की गति-विधि परेखती
निश्चय देख शत्रु का गुस्से से बेकाबू
हो कुछ बीर चींटियाँ उमड टूट पडती है—
दुश्मन के ऊपर-उस के शरीर मे घुस कर
जगह जगह छुरियो से उस को क्षत विक्षत कर
उसे विवश कर देती, हार मान चिल्लाते--
चिल्लाते पृथ्वी पर उतर भाग जाने को।

सिसकता जीवन

गिरते सूरज की पीली आँखो से गिर कर
मेरे आँगन मे जो पडी हुई पल भर को,

इसी धूप की भाँति, करुण दुर्बल स्वप्नों से
भरा हुआ मेरा जीवन पृथ्वी के ऊपर
सिसक रहा है—नील गगन की ओर देखता,
कहाँ मुझे जाना है? इन दुर्बल चरणों से
पार मुझे करना है पथ किस दुर्गम वन का?
मुझे सूर्य्य क्या पुनः खीच लेगा अपने मे
जागूँगा क्या मै प्रभात मे पुन. धरा की—
आँखो मे बन कर जीवन का स्वप्न सुनहला?
अथवा मुझे छोड़ देगा वह पीत पत्र-सा
गहन रात्रि के अंधकार मे? जब कलियो से
गूँज उठेंगी इस पृथ्वी की पुलकित बाँहें
मै ही तब हूँगा क्या सिसकी भर-भर मरता?

गिलहरी

आती है गिलहरी नाचती पूँछ उठाती
अपने सर पर अपनी दुम का चँवर डुलाती,
कभी बैठ कर इतमिनान से देख कही पर-
पड़ा हुआ रोटी का टुकड़ा एक—उठा कर
उसे पकड़ दोनो हाथों से नोच नोच कर,
खाती औ, सहसा ही चचल पूँछ नचा कर
दौड़ भाग जाती आँगन में, या पेड़ो पर
चढ़ कर—किसी डाल पर छाया में सुन मर्मर
पत्रों का, गाने लगती है तीखे स्वर से

अपने गीत; और सहसा ही चुप हो कर के,
कूद पेड़ से नीचे देख कहीं दूरी पर
कोई और गिलहरी उस के पास दौड़ कर
उस की पूँछ दबा कर मुँह से, उसे छेड़ती
दिन भर उस के साथ छाँह मे खेल खेलती।

भावर का रास्ता

बाँसो और घने शालों ने आसमान में,
उलझ, जमा कर दी अपने नीचे पृथ्वी पर-
ऐसी रात न जिस में तारे कहीं चमकते,
युग-युग से सड़े पत्तो के नीचे से उठ,
चलती हवा मच्छरो से अत्यन्त घनी हो,
घनी छाँह के नीचे दल-दल बनते पोखर,
जहाँ मच्छरों की असख्य सेनाएँ पलती,
कठिन सूर्य की किरणो से पीड़ित हो, अहरह
बाँसो के नीचे गुस्सावर शेर गरजते—
और कई शालो के काले तने बाँध कर
अपने दृढ़ शरीर से नीचे लटक हवा मे
जीभें खोल हाँपते रहते साँप रात-दिन!

पँवालिया

मेरे गृह से सुन पड़ती गिरि वन से आती
हसी स्वच्छ नदियो की, सुन पड़ती विपिनो की
मर्मर ध्वनियाँ, सदा दीख पड़ते द्वारों से

खुली खिडकियों से हिमगिरि के शिखर मनोहर,
उड़-उड़ आतीं क्षण-क्षण शीत तुषार हवाएँ,
मेरे आँगन छू बादल हँसते गर्जन कर,
झरती वर्षा, आ वसन्त कोमल फूलो से
मेरे घर को घेर गूँज उठता, विहगो के दल
निशि-दिन मेरे विपिनो मे उड़ते रहते।
कोलाहल से दूर शान्त नीरव शैलो पर
मेरा गृह है, जहाँ बच्चियो-सी हँस-हँस कर
नाच-नाच बहती है, छोटी-छोटी नदियाँ
जिन्हे देख कर जिन की मीठी ध्वनियाँ सुन कर
मुझे ज्ञात होता जैसे यह प्रिय पृथ्वी तो
अभी अभी ही आई है, इस में चिन्ता को
और मरण को स्थान अभी कैसे हो सकता !

मेरा घर

(१)

जहाँ विकल हिम शैलो से करते मृदु गुंजन झरने
जहाँ नील नभ की छवि को मेघ सदा लगते भरने
चीड़ों मे गुंजन करती चलती मादक पवन जहाँ,
तरु छाँहों से ढके हुए खड़े हुए हैं भवन जहाँ,
थे रत्नों से शैल भरे, थी शैलों से भरी मही
हिमगिरि के अचल में था मेरा घर भी यहीं कहीं।

(२)

आँगन में थी खड़ी हुई छोटी-सी दाड़िम डाली,
मधु को देख उमड़ आती थी जिस के मुख पर लाली !
मेरे घर पर चढ़ फैली थी द्राक्षा की एक लता,
और दूर कलरव करती जाती थी चचल सरिता
लहरों में जिस के थी हसो की पाँतें तैर रही
इसी नदी के तट पर था मेरा घर भी यही कही !

अस्त व्यस्त

जिस दिन घर को सजा, गूँथ फूलों की माला,
रहता है मन बैठा द्वारों पर, आँखो मे
देख दूर से आती तुम्हें, प्रतीक्षा भर कर,
उस दिन तुम विपिनों के बीच-न जाने गा कर
कहाँ चली जाती ! मेरी आँखो की आशा
थक कर झर जाती, मेरे फूलो के मुख से
उड़ जाती चुपचाप हँसी, घिर आती सन्ध्या,
और किसी दिन अस्त व्यस्त केशो को ले कर
भूल तुम्हें मैं मलिन वस्त्र पहिने आँगन मे
खड़ा देखता जब नभ मे उड़ते मेघो को
तुम जाने कब मेरे घर के भीतर आ कर
सजा वस्तुएँ मेरी, धर हाथो मे फूलो को
और हँसी ओंठो मे ले, मेरे द्वारो पर
आ कर मुझे बुलाती सरस सुमन्द स्वरों मे !

मनोरम गुंजन

आज न कहा किसी ने मुझ को देख विपिन में
लिखो गीत उस सुख के जो इस सुन्दर दिन मे,
हँसा है आँखो मे मेरी, लिखो पत्र पर
मेरे मुख की छवि सजीव वर्णों मे सुन्दर!
और न लिख सकने पर मेरी हँसी उडा कर
गई न कोई मेरे जीवन को लाञ्छित कर
आज शान्त एकान्त स्थान पर चिन्ता तज कर
मै लेटा हूँ, मेरे ऊपर नीला अम्बर
है अनन्त सुख मे निमग्न, पद-तल पर कोमल
दूर्वा, बार-बार मारुत-स्पर्श से हिल-हिल
करती है सुन्दर मर्मर, उठते हैं बादल
हिम-गिरि के ऊँचे शिखरो से, करती कल कल
बहती मन्दाकिनी चूम पुलिनो को अपने,
दूर किसी पीली घाटी में, जिस पर पकने
लगे धान अब, जहाँ सुरभि से मन्द समीरण,
कृषक कुमारी की अलकों में कोमल कम्पन
उठा रही है करती मन्द मनोरम गुंजन!

अपना रूप

देखा मै ने अपना रूप घृणा से निश्चल,
भाव-हीन इन नयनों में— मै हुआ न चंचल

रोम-रोम से मेरे उमडा आज न रोदन
आज न माना मै ने निष्फल अपना जीवन,
प्यार किया करता था मै अब तक प्राणों के
खल कलंक को, इसी लिए इन शुचि नयनों के-
घृणा-भाव को देख हृदय कर उठता क्रन्दन
था, उस जन-सा जिस का हो अति पावन जीवन
किन्तु पतित कहता हो जिस को जग निष्कारण,
आज घृणा करता मै भी अपने से उतनी
प्रिय, इन नयनों मे संचित रहती है जितनी !

दूसरा व्याह

वह मर गई ; उसे गगा के तीर जला कर,
उसके पति ने कुछ दिन झूठा शोक मना कर,
किया दूसरा व्याह, बजाई मधुर बाँसुरी,
पहने कपड़े रग-बिरंगे जिन्हें सुंदरी
नारी करती है पसंद, दर्पण के सम्मुख
बार-बार जा, तरह-तरह से देख एक मुख,
हँस कर कभी, कभी गभीर कटाक्ष पात कर,
कभी रूठ कर, कभी शान्ति के पुतले बन कर,
तिरछे होकर कभी, कभी मुड़-मुड़ कर चल कर;
कैंची से लम्बी मूछों को कुतर—कुतर कर,
और अन्त मे मूँछ हीन बालक ही बन कर,
किया व्याह कर दुनिया का उपकार महत्तर !

जिसे जला आये थे वे गंगा के तट पर,
वह न लौट कर आई आँखों मे विषाद भर,
कहती, रोती हुई "हाय ! दो ही दिन पहले
जो मेरे थे, किसी दूसरे के .वे निकले !"
कहा न उस ने अपने पति से, "मुझे प्राणधन
भुला दिया तुम ने, सहसा ही क्यों कर, कठोर बन ?
मै मर गई, जान यह ही क्या जीवन-सहचर !
किसी अन्य को लिया आज तुम ने अपना कर ?
तुम मरते यदि नाथ, और मै जीवित रहती
तुम ने जैसा किया वही क्या मै भी करती ?"
वह न लौट आई उन से कुछ भी तो कहने
इसीलिये लगे वे शान्ति औ सुख से रहने !

सार्थक जीवन

अपने सुख से जो सुखी रहे,
अपने दुख से जो दुखी रहे, वे जग मे किस के लिये रहे ?
मन मे न घिरे हों जब बादल,
उस समय धूप जिस के मुख पर, आदमी नही वह, वह पत्थर !
अपना दुख अपने नयन भरे ! अपना सुख जग के बीच फिरे,
दुख देख दूसरे का, उर मे पीड़ा के पीड़ित मेघ घिरे !
अप्रैल १६३६ ई०

वेदना-गीत

बंधु मेरी है उपेक्षित वेदना !

इसे था कुछ भी नहीं कहना, माँगते थे और चातक स्वाति-जल,
इस हृदय को था न तब कुछ माँगना,
सदा नीरव ही रही यह वेदना !
पास ही जब पुष्प थे, मकरंद था,
यह न सीखा, रीझना, गुंजारना !
यह रहा प्यासा नदी के तीर पर,
अधर पर ले कर विनीरव वेदना !
है इसी से यह उपेक्षित वेदना,
गायगी मेरे मरण—संगीत को,
संगिनी मेरी मनोहर—वेदना,
यह उपेक्षित अश्रु-नयना वेदना !

(२)

हो गये अब प्राण परिचित वेदने ! तुम से !
मिल गया उर एक विरही, विरहिणी तुम से !
तुम गई घर-घर किसी का उर प्रणय पाने !
तुम फिरी बन-बन किसी तरु का प्रश्रय पाने,
जिस तरह मुझ को जगत में नहीं प्रेम मिला !
उस तरह ही तुम्हें संगिनि ! नहीं प्रेम मिला !
वेदने ! दुख के नगर मे वह करुण परिचय !
वह दृगों मे निराशा के घनों का संचय !
बाँध प्राण गया हमारे था सदा को ही परस्पर,
यह जलेगा दीप जब तक, साथ ही रहना,

पूर्व की बन एक छाया, साथ ही चलना,
सो रहा हो प्राण निर्धन जब जरा थक कर,
तुम जगाना इसे सपनो मे हलाहल पिलाकर,
पास ही उर के रुलाना तुम उसे निशि भर,
हँस रहे हों जब कभी ये अधर लख फूल
तुम मृदुल दल चीर देना तब लगा कर शूल!

(३)

हो गये अब प्राण परिचित, वेदने! तुम से!
अब तुम्हारे ही नयन जल से जलज विकसे!
अब तुम्हारी ज्योति का हूँ मै शलभ पागल,
मस्त हूँ मै पी तुम्हारी निर्झरी का जल!
देखता हूँ मै बनो मे तुम्हारी छाया,
पत्र-पत्र कुसुम-कुसुम मे तुम्हारी काया!
तुम गिरी हो बाल-आभा-सी सरोवर पर!
तुम गिरी हो चाँदनी-सी हिम–शिखर पर,
वेदने! तुम सदा छवि के फूल में बसती,
मृत्यु-सी तुम प्राण के हो साथ फिरती!

(४)

हाय मेरा वेदना से बना जीवन!
कहीं होता एक आँसू का सजल कण।
कभी ही वह छूट पलको से धरा पर,
धूलि में गिर,बिखर जाता फिर न आता!

था विरह का एक होता राग ही यह,
जो करुण बन विश्व भर मे फैल जाता,
अधर के लघु एक कोने से उमड़, जो—
दूसरे में समा जाता फिर न आता!

(५)

विश्व की प्रति कुंज में बस, कर रहे हैं अमर ध्वनियाँ
अश्रु से भर नलिन लोचन,
विश्व के कवि-गण मनोहर वेदना से भरी ध्वनियाँ!
वेदना के उन मनोहर गायकों के चरण तल पर बैठ मै ने
हैं बिताई दीर्घ दुख की रजनियाँ
कुंज से मै कुञ्ज मे हूँ फिर चुका,
मै सभी के करुण-स्वर हूँ सुन चुका,
हाय मेरी वेदना को पर न कोई गा सका!
आज सरिता के किनारे बैठ कर मै सुन रहा हूँ,
कह रही तट से निराशा भरी तटिनी,
'कही कितनी बार मैंने निज हृदय की वेदना,
विश्व मे कोई न मेरी वेदना पर पढ़ सका,
घिर अचानक हिमालय पर, करुण स्वर कर कह रहे घन,
'नयन रोये ये न जाने बार कितनी,
आँसुओं से भरी सौ-सौ बार धरणी,
रे सुनाई है सभी को निज हृदय की वेदना,
विश्व में कोई न मेरी वेदना पर गा सका!'

जा रहे हैं दूसरों के द्वार पर, सब विश्व में,

जल खड़ा हो द्वार पर थल के सदा,

कह रहा अपने हृदय की वेदना !

थल खडा हो हिमालय के शीश पर,

कह रहा सूने गगन से प्रति दिवस की वेदना !

गगन-उर मे वेदना के पुंज घिरते,

देख जिन को वसुमती के नयन भरते !

प्यार करता है हृदय इस विश्व मे उस ही हृदय को,

सुनी जिस ने हो कभी अपने हृदय की वेदना !

विश्व के ईश्वर वही है

जो सभी की वेदना मे हृदय से है रुदन करते,

जो सभी की वेदना को है समझते !

कवि वही जिन के स्वरो मे

भरी रहती है हृदय की हार उर की वेदना !

चाहते है जानना क्यो, सब हृदय की

वेदना को, जो हृदय में छिपी रहती,

दृग, सदा जो विकल करती, जो सदा

उर में 'कसकती, देख उस को, जान उस को

क्या न फिर लोचन भरेंगे ?

क्या न उर में तीक्ष्ण कटक स-विष दंशन फिर करेंगे ?

लाजवन्ती, स्पर्श से ज्यों, चेतना खो कर

धरा पर, कुछ क्षणों के लिये मरती,

क्या उसी ही भाँति उर की वेदना भी,
देख लेने पर दृगो से, फिर नही जीवित रहेगी ?

कहाँ खो गई

कहाँ खो गई जन समूह में वह मेरे बन की हरिणी ?
क्या न किसी ने पहिचानी वह प्रेम की दूई हरिणी ?
उल्लासों मे भाग न लेती, रहती सदा अकेली
बनी हुई निज मर्म-व्यथा से प्रिय को एक पहेली !
क्या न किसी ने देखी वह तरुणाई मे सुख-विमना ?
पहिन मेघ की करुण सजलता, चिर वियोग की करुणा !
से खोजता हूँ मै कब से, देश-देश मे प्रति गृह द्वार,
किन्तु न जाने कहाँ खड़ी है वह पलकों मे जल-कण धार ?

रो रही है

रो रही है वह परी, निर्जन विपिन मे,
आज चकवी-सी निशा तम से घिरी !
करुण स्वर कर बोलती है कोकिला,
सिसकती है, वायु चरणो पर गिरी !
सुन रुदन उस का, सुमन हैं गिर रहे,
पूछते हैं भृंग कानों पर व्यथा,
बाँह से भर शान्ति देने को उस,
झुक रही हैं स्नेह से बन की लता !
लेट कर तरु के सहारे मुँह छिपा,

वह करो मे - दुख से है कॉपती !
शिशिर में बन. लता-सी, पीत पड़,
शशि-किरण मी अस्त गिर में गिरि रही !

ओस

कभी तुम्हो सी हे मै भो इसी धरा पर थी रहती,
प्रिय लगते थे मुझे प्रभात, प्रिय कोमल किरणें नव जात
प्रिय लगते थे ये तृण-पात, प्रिय थी मुझे पवन लगती,
अब नभ मे है मेरा बास, अब रहता मै सदा उदास.
अब सुन हा ! किरणों का हास, मै घुल-घूल दुख से मरती
अब निशि मे चुपचाप उतर मै धरणी की पलको पर,
देख पुष्प किसलय सुन्दर, दूर्वा पर सिर धर रोती !

अब कैसे

अब कैसे होगा मिलना ? छाया मे पा जरा अकेले,
भूल लजाना, खिलना, निर्झर के पद पर आ पहिले
तरु-तरु के नीचे लखना, मुझे न पा घट उलटा पुलटा
गा-गा देरी करना, फिर अपने यौवन की श्री पर
मन्द स्वरों में हँसना ! मुझे देख फल खाने के मिस
तरु पल्लव में छिपना ! अब कैसे होगा मिलना !

मुझे पहुँचना

खोजते प्रेयसि तुम्हे अब थक गया यौवन,
यह रुकेगा अब यहीं पर नही यह जीवन !

मुझे चलना ही प्रिये होगा, तुम्हारी राह पर,

पहुँचना ही होगा प्रिये तुम्हारे द्वार पर ?

सोच कर

सोच कर प्रिय तुम अकेली रो रही हो,

सोच कर तुम अब मरण के देश में हो,

हो गया कितना मुझे सुन्दर मरण,

प्राण उस को चाहते करना वरण,

मै मरण को खोज में हूँ फिर रहा,

घूमता निशि दिन अकेले पर्वतो पर

बुलाता प्यारे मरण को स्नेह से भर,

मरण की निशि दिन प्रतीक्षा कर रहा,

प्रिय मरण मुझ को कहाँ तुम भूल कर

सो रहे हो ? अब न और निठुर हृदय

बन रहो मुझ को शरण दो हे सदय !

मुझे अपनाओ परम प्रिय अंक मे भर ?

आत्म क्रंदन

मुझे अक में भरो प्राण-धन !

अवश करो चुम्बन से आनन, विवश करो आलिगन से तन,

दूर करो लज्जा के बधन, मुझे अंक मे भरो प्राण-धन,

रुको न सुन कर मेरा वर्जन, समझो सत्य न मेरा रोदन,

शिथिल करो न सुदृढ़ आलिगन, मुझे अ क मे भरो प्राण धन,

पहचानो अन्तर अन्तरतम, सुनो मर्म की बाणी प्रियतम !
सफल करो युग-युग का क्रदन-मुझे अंक मे भरो प्राण, धन !

प्यार करो

प्यार करो मेरे जीवन को, प्यार करो हे प्यार करो
मेरी बाँहो को निज उर का हार करो हे हार करो
मेरे कपित अधरों मे हे निज अधरो का अमृत भरो !
अपने मधुर रूप से शोभन, यह उर, यह संसार करो !
प्यार करो मेरी कटुताएँ, प्यार करो हे प्यार करो !

शीघ्र ही

शीघ्र ही मेरे अधर नीले पड़ेंगे !
शीघ्र ही असहाय हो मेरे मरण से,
घेर मुझ को दुख-दल रोदन करेगे !
मै व्यथा अपनी सखी को देख कर,
पास ही रोती, न समझा पाऊँगा
जो बजी मेरे हृदय मे कप-सी,
मै उसे ही विसर कर सो जाऊँगा,
देख उस का दुख न मेरे दृग झरेंगे,
शीघ्र ही मेरे अधर नीले पड़ेगे !

१४ मई १६३६ ई०

जब मुझे

जब मुझे ऐसा बना दे प्रिय मरण,

ये तुम्हारे नूपुरों से गूँजते मथर चरण,
मुझे निद्रा से न मेरी जगा पावे,
जब तुम्हारे प्रेम से होते प्रकंपित पाणि-पल्लव,
मुझे तन्द्रा से न मेरी जगा पावें,
तब न तुम हृदयेश्वरी होना मलिन मन,
समझना अपराध हूँ मैं कर रहा,
हूँ उपेक्षा जान कर ही कर रहा!
और मुझ को तुम कठिनतम दंड देना,
भूल जाना, समझना मुझ को विरह के पास का घन,
जो उठा था अध नभ में तुमुल रव से
और पीडा दे किसी को गिर गया झर,
फिर न उमड़ेगा कभी जो नील नभ पर!
समझना मुझ को व्यथा का एक आँसू,
स्वप्न में जो था गिरा, पर जागने पर
जो हँसी को म्लान कर सकता न गिर कर!

एकान्त लख

एक दिन एकान्त लख जब खोलने
घूँघट लगी, विजन में वह सुन्दरी,
प्रेम की ज्वाला जगी, उस के हृदय मे
जब पिपासा से भरी; मृत्यु आई तभी सहसा;
देख कर वह सुन्दरी, लगी रोने
करुण स्वर से, प्रेम की उन्मत्त लहरी,
मर गई ज्यों मधुर नलिनी तीक्ष्ण हिम से,
एकदिन एकान्त लख जब खोलने घूँघट लगी!

सुन किसी से

सुन किसी से यह कि मै अब मै हूँ नही,
यह कि मैने छोड दी है यह मही.
जहाँ मुझ को देख ही थी तुम दुखी,
राहु का धर ध्यान जैसे शशि--मुखी,
सुन किसी से यह कि अब मै लौट कर
आ नही सकता तुम्हारे द्वार पर,
तुम हँसोगी और सुख से भूल कर,
उसी को दोगी हृदय का प्यार सुन्दर !
किन्तु सुन यह भी कि अन्तिम समय ये
अधर जपते थे तुम्हारा नाम ही,
खो मुझे प्रिय,तुम कभी रो भी पड़ोगी !

घाटियों में

प्रिय तुम्हारी घाटियो मे चातकी रोती सदा।
चातकी रोती सदा मेरे हृदय-तल की व्यथा !
प्रिय तुम्हारे पर्वतो मे सदा हँसते स्वच्छ निर्झर !
इस हृदय के गह्वरो से फूट सहसा
मधुर आशा भरे गीतो से मनोहर स्वच्छ निर्झर !
घेर तुम को पुष्प हँसते, चरण-तल पर तुम्हारे !
मेरे हृदय मे उगी दूर्वा के सुकोमल प्राण बिछते,
हवा तुम को प्यार करती, प्रेम-मत्ता हँसिनी-सी,
पख खोले, मंद गुञ्जन कर तुम्हारी अग-लतिका घेर उडती,
धन्य वे तरु, छाँह मे जिन की कभी तुम श्रान्त हो कर बैठ जाती
धन्य वह छाया, तुम्हें जो हृदय पर अपने सुलाती !
धन्य वे पथ, जो पदों के मृदुल चिन्हो को तुम्हारे,
हृदय पर रखते सँभाले !

धन्य वे गिरि, धन्य वे बन, धन्य वह निर्जन बनानी।
जिन्हों ने तुम को बनाया है हृदय की राज रानी।
धन्यतम वे कुसुम जो छिप कर बनों में,
देख अपलक मुख तुम्हारा शनै भू पर बिखर जाते,
सुरभि से व्याकुल तुम्हारे हृदय को कर एक क्षण भर।

पुरातन नगरी (नागनाथ)

ये बॉज पुराने पर्वत से, यह हिम से ठंडा पानी।
ये फूल लाल सध्या से भी, इन की यह डाल पुरानी।
इस खग का स्नेह काफलो से, इस की कूक पुरानी।
पीले फूलों मे कॉप रही, पर्वत की जीर्ण जवानी।
इस महा पुरातन नगरी मे, महा चकित यह परदेशी,
अनमोल कूक, झॅपती झुरमुट, गुंजार अमोल पुरानी।

झॅपती झुरमुट

हो उठे नयन कितने उदास। झॅपती झुरमुट के आस-पास।
संध्या के कपित पत्र चरण, अब मेघो मे करते विचरण,
उठता गलता पुंजित तुषार लहरो मे फूल रहा अपार।
गिरि के मस्तक पर नील व्योम, उफनाता मंथित थकित सोम
सुधा-स्नान करता हिम-प्रदेश, कूजन मे दिन सब हुआ शेष।
सरिता से गिरि दस मील दूर, आकाश शान्त, गिरि सुदूर,
आकाश और गिरि शृंग-बीच,
है तैर रहा शशि, अमृत सीच।
फैला बॉहो से बॉह मिला ये शुभ्र अभ्र भ्रू चरण हीन,
पर्वत पर सोने जाते हैं, चन्द्र लोक को बंधन विहीन,
केशों में छिपते हैं किरीट, उड अम्बर में बनती लकीर,
उडते रेशे मणि बन-बन कर, तारों में उड़ते, उड़ा चीर।
गिरता, पर्वत का हरा गात, तिरछी फिसली-सी शरद-रात।

यह धीर चीड पल्लव अधीर, है खडा, कठोरा भूमि चीर !
है कटी सहस्रों मुडी बाट, जिन पर पहले पाषाण काट
कानन मे करने को शिकार, ले कर नयनों मे क्षुधा ज्वाल,
आये होंगे बर्बर नर, कर मे ले पैने पत्थर कराल,
मिल गई चीड से यह करील दे दे कर उस को नये फूल !
उस की बाँहों मे डूब गये, मधु के सहलाये तीक्ष्ण शूल !
निर्मित कर के लघु दीन कुज, दोनो रहते हैं एक साथ,
फल लाता है उत्तुंग चीड, देती प्रसून वह प्रति प्रभात,
तरु के तल पर मडप निर्मित, जिस पर फैली चाँदनी मौन-!
गिरि-गिरि से झरनो की गिरती रस भरी उमडती घटा मौन !
घुलता जाता ज्योत्स्ना-प्रवाह, आन्दोलित अहा यह महाकाश !
उठ रहे उर्मियो के बादल, बाँहों मे थक गिरते बिलास,
हो उठे नयन मेरे उदास, झँरती झुरमुट के आस पास,
आती है भूली बात याद, अपना प्रमादमय वह विषाद,
परिचित-सी है यह दूब गध, परिचित ह गिरि यह चीड़-डाल
छोटे आँगन की वही स्कूल, साक्षी ऊपर ये गिरि विशाल !
होता मुझ को कुछ यही भान, हाँ है अवश्य यह वही स्थान !
जागो जागो हे व्यथित प्राण ! जागो बालक के बाल प्यार !
जागो बाला के हास-हार ! जागो हे तरुणी के गुलाब !
तितली के पंखों को पसार, घुटनों मे सिर लो दबा देख-
इस जलते बन को एक बार, फिर न रुकेगी अश्रु धार !
गिरि पर चढने मे तुम उदास ! चाहिए तुम्हे थी शीत छाँह,

दे सकती थी क्या परित्राण, तब तुम को मेरी बाल बाँह !
मकरद-मत्त उस प्रिय आनन मे अब डूब गया छवि शुभ्र सोम,
मुझ को क्या वह नीचे का गिरि !
ऊपर का ऊमड़ा शुभ्र व्योम !
मेरे लोचन है हे उदास, झँपती झुरमुट के आस-पास !

काफल-पाक्कू

(१)

हे मेरे प्रदेश के बासी !
छा जाती बसन्त जाने से जब सर्वत्र उदासी,
झरते झर-झर कुसुम कभी, धरती बनती विधवा-सी,
गंध-अंध अलि हो कर म्लान,
गाते प्रिय समाधि पर गान
तट के अधरों से हट जातीं जब कृश हो सरिताएँ,
जब निर्मल उर में न खेलती चंचल जल मालाएँ !
हो जाते मीन नयन उदास,
लहरें पुकारती प्यास-प्यास !
गलने लगती करुण-स्वर से जब हिम-भरी हिमानी,
जब शिखरों के प्राण पिघल कर बह जाते बन पानी,
बाकी रहते पाषाण खंड
जिन पर तपता दिन कर प्रचंड
सूखे पत्रों की शय्या पर रोती अति विकल बनानी !

छाया कहीं खोजती फिरती बन-बन में बन रानी!

जिस के ऊपर कुम्हला-किसलय,
गिरते, सुख से हो कर के क्षय,

उसी समय नभ के अन्तर से सरस्वती धारा-सी,
लेकर तुम आते हो हे खग, हे नंदन-बन-बासी!
स्नावित हो जाते उभय कूल,
धरती उठती सुख सहित फूल,

पी इस मधुर कंठ का अमृत खिल उठती बन-रानी,
लता-लता में होने लगती गुंजित गई जवानी!
तुम शरच्चन्द्र से मधुर किरण,
आलोक रूप तुम अमृत कण,
किसलय की झुरमुट में छिप, सुधा-धार करते वर्षण,
सुनती वसुधा ग्वाल बालिका-सी हो कर के प्रेम-मगन!
रख मृदुल हथेली पर आनन,
सुख से मूँदे वे मलिन नयन!
शैलों से उतर उतर आती नीरद निवासिनी परियाँ,
बजती मधुर स्वरों में जिन के चरणों की पैंजनियाँ,
ग्रामों से आती मुग्धाएँ,
कोकिल कंठी प्रिय लतिकाएँ,
क्षण-भर में कर देते तुम खग, इस पृथ्वी को नंदन,
जहाँ अप्सराएँ करती हैं छाया में संचारण!

कानो मे बजते है ककरण, आँखो मे करता रूप रमण !
फूले रहते हैं सदा फूल, भौंरे करते निशि-दिन गु जन !

(७)

मेरे हिम-प्रदेश के बासी !
जन्म भूमि तज दूर देश में रहने लगा प्रवासी !
सावन आया दुख से मेरे उमडी अतुल उदासी !
बरसी झर-झर-झर अश्रु धार !
शैलों पर छाया अधकार !
लख उत्तर की दिशा जल भरे मेघ मनोहर उड़ते !
पल-पल मे चपला चमकाते, शैल–शैल पर रुकते
पीछे को लखते बार-बार !
बरसाते रह-रह विन्दु-धार !
मै घायल पर-हीन विहग-सा, किसी विजन मे मन मारे,
किसी तरह रहता था रो-रो कर निज जीवन धारे.
उर में उठती बातें अनेक,
मै कह पाता था पर न एक,
एक अँधेरी रात बरसते थे जब मेघ गरजते,
जाग उठा था मै शय्या पर दुख से रोते-रोते
करता निज जननी का चिन्तन,
निज मातृ-भूमि का प्रेम स्मरण,
उसी समय तम के भीतर से मेरे घर के भीतर.

आकर लगा गूँजने धीरे एक मधुर परिचित स्वर-
'काफल-पाक्कू' 'काफल-पाक्कू'
'काफल-पाक्कू' 'काफल-पाक्कू,

स्वप्न न था वह क्योंकि खोल कर वातायन मैं बाहर-
देख रहा था बार-बार सुनता वह ही परिचित स्वर;
उर मे उठता था हर्ष-ज्वार।
नयनों में गिरती पुलक-धार।

मै तो विवश यहाँ आया हूँ, पर यह कैसे आया ?
क्या मुझ को मेरी जननी का है सन्देश कुछ लाया ?
मुझ से कहने को आज रात.
आया जो यह आशा-प्रभात ?

अथवा क्या वे शैल बह गये जिन में यह था गाता,
उखड़ गये वे पादप जो थे इस के आश्रय दाता ?
क्या उस बन मे लग गई आग ?
आया जो यह निज विपिन त्याग ?
हिम-पर्वत का क्या सब तुषार,
बन गया सलिल की तरल धार ?
रह गये शेष नंगे पहाड़
हिम - हीन—दीन—सूखे - उजाड़ ?
बच पाया क्या कोई न भाग ?
जो आया यह हिम शैल त्याग।

(३)

हे मेरे प्रदेश के बासी !
एक बार फिर कंठ मिला कर गाने का हूँ अभिलाषी,
अतल गीत-गगा विस्मृत करने को यह उपल उदासी !
पाने फिर वह जीवन-प्रभात,
नव स्वच्छ गगन स्वर्गीय वात,
कितनी बार तुम्हें जीवन में मै ने पास बुलाया,
किन्तु न जाने तुम को भी क्यों आना कभी न भाया !
मै जितना आता पास-पास,
उड़ते तुम उतना स्वास-आश !
कहाँ खो दिया तुम ने अपना सरल हृदय हे सुन्दर !
किस मानव ने तुम्हें दिखाया सोने का पिजर !
होने पर भी जीवन-समान,
क्यों रहते हो तुम दूर प्राण ?
तुम दिन भर तरु के कानों में अपनी विरह-व्यथा कहते,
मुझे देखते ही सहसा क्यों तुम रुक कर चुप हो जाते ?
तुम सदा जानते हो कुमार,
कितना करता मैं तुम्हें प्यार !
कल ही जब आँधी आई, तरु पर तुम डर कर बोले,
तुम्हें मार्ग देने को मै ने निज गवाक्ष-पट खोले,
भीगे पंखों में रख आनन,
क्यों दुरा दिए तुमने लोचन ?

मेरा कुम्हलाया आनन लख, लख कर मेरे साश्रु-नयन
हँसकर आह ! कर गये हो तुम क्यों विषम विवश बन्दी जीवन?
क्यो भूल गये अभ्यस्त गीत ?
क्यो भूले सहसा प्रेम-प्रीत ?
तुम तो वही जो देते थे मुझे आशीष समुद मन,
जब माँ के चरणों पर करता था मै अर्पित जीवन !
जीवन मे मैने प्रथम बार,
जीवन भर को था किया प्यार !

भूल गया धीरे धीरे मै जननी के प्रिय चुम्बन,
इन लहरो के साथ बह गया मेरा वह मृदु जीवन !
सुन्दर था तुम से बाल्य-काल,
यह भी हो पाता है विहग-बाल !
एक विपिन में रह कर भी तुम दूर रहे हे प्यारे !
यह हृदय-कुसुम फूलेगा अब किस के स्पर्श--सहारे !
फैला है सब पर वही गगन,
छूता सब को वह एक पवन,
फिर क्यों आह मुझे अकुलाहट ? क्यों मुझ को ही पीड़ा !
क्यों मुझ को उन्मन पागलपन; तुम को इतनी व्रीड़ा !
मैने पाया है अविश्वास !
भय घृणा यह दारुण उपहास !
तुम्हें कभी विश्वास न होगा अब ऐसी मानवता पर!

तुम्हें कभी मैं देख न पाऊँगा अपने इन हाथों पर !
मेरी मानवता मुझे शाप !
मेरी मानवता मुझे पाप !!
अब कैसे मानव मैं तुम को हे प्रिय पास बुलाऊँ ?
गुञ्जन स्वर में हृदय चीर कर कैसे आज बताऊँ ?
होता मैं भू पर झरा फूल,
तज कर डाली के तीक्ष्ण शूल,
तब तो तुम आँसू भर मेरी सुख-समाधि पर गाते ?
तब तो दल उस रोमिल उर का मृदु स्पर्श कर पाते ?
मेरी तृष्णा बन पाती बन मे पल्लवित कोमल डाल,
तब तो तुम उस शय्या पर रह निशि भर गाते विहग-बाल ?
हो पाते मेरे आँसू यदि मेघों के ये झरते लोचन,
तब तो, हे मेरे प्रिय ! मेरे आँसू धोते तेरा आनन ?
हो पाता यदि मैं खगकुमार,
क्यों रोता तब यों बार-बार !
क्यों होता मैं प्रति पल अधीर !
क्यो बहता अब तक अश्रु नीर !!

जून १६३६ ई०

अवहेला

हार गई वह किन्तु काव्य चिन्ता को तज कर,
मैं न उठा सोने निद्रा के साथ शयन पर-
और बिकलता की उस की कर के अवहेला

अश्रु भरे नयनो से उस मधु-निशि की वेला-
रहा विताता चिन्ता के सुकाव्य पर झुक कर,
रही देखती वह चुपचाप खुल गया अम्बर,
एक एक कर लगे खिसकने नभ से तारक,
हुए मलीन भवन के उज्ज्वल दीप अचानक,
चौंक उठा मै, देखी मैंने पड़ी सेज पर,
शयन-सखी निद्रा नयनो मे मधुर क्लान्ति भर!
चूम, प्रिया की पलको का निश्चिन्त साँस भर
मै सोया जब जाग रहे थे पृथ्वी में स्वर!

ढलती छाँह

अस्ताचल की ओर ढल रहे सूरज धीरे-
चमक चली जाती लहरें चचल कलरव कर
तट की ओर उछल उज्ज्वल मुक्ताओ मे भर,
मिल जल के भीतर कुछ दूर दौड कर छिप कर,
सहसा ही सिर बाहर कर सोल्लास उमड कर,
बाँहों मे कोमल बाँहें भर किसी भँवर के
चारों ओर नाचती हँसती-हँसती जी भर!
हो एकाग्र चर रहे पशु फैली दूर्वा पर
नाच रहीं चंचल पूंछे बजती हैं अविरल
मजु घटियाँ कंठों में, छाया के नीचे
पडी हुई है निद्रित-सी रोमन्थन करतीं

अलस भाव से आतप से कुम्हलाई भेड़ें !
मन्द पवन बह रही आम्र वृक्षों के नीचे,
मृदु कंपित करती केशों को-पत्र वनो को,
सहसा ही चंचल कर देती और उन्ही को,
कम्पन में विलीन हो जाती धीरे धीरे !

भीम मनोहर

गिरी धरा पर घन की काली छाया,
पर्वत के शृंगों पर नभ से आया,
नभ स्वान से घन का गर्जन,
पंख फड़ फड़ा उठे खगों से देवदारु बन,
लगी हर्ष की मदिर तरंगें बहने, धीरे धीरे जल धाराएँ गिरने,
आये घन, बन-शोभा के नव तन पर
शृंगों पर वर्षा के जलद उतर कर,
लगी विचरने अवनी पर घन रजनी,
बन-श्री डूब गई-गिरि पर ज्यों शशिनी,
बुझी वह शिखा, दमकी दीप्त दामिनी
घिरी घोर घन प्रलय-यामिनी !
उठी प्रलय रव करतीं क्षुब्ध तरंगें !
महाकाल के उर की प्रलय उमंगें !
फैला फुफकारें बसुधा भर में फिर बरसी बौछारें !
उड़े बाज के तीव्र बेग से बादल,

लड़े पवन से मेघों के दल के दल
नाचे ,वज्र करों में, निकली ज्वाला की कराल लपटें अधरों में,
महाकाल का तांडव नृत्य गगन में
भीम मनोहर भैरव गान गगन में,
उल्का ज्वाल गगन मे महाप्रलय का धूम्र केतु उन्मत्त गगन मे!

झूमे बादल

झुक झूमे बादल धरा ओर, नाचे बन बन के नवल मोर,
फुहियाँ बरसी मिल जल सरसी, साकी भर दे हाला किशोर,
झुक झूमे बादल धरा ओर, नाचे बन बन के नवल मोर!
विद्युत बाला का मधु स्फुरण,
निरुपम बिलास, निरुपम वरण,
बंकिम चितवन बकिम रेखा हृदय हरण,
विद्युत बाला का मधु स्फुरण, निरुपम विलास, निरुपम वरण,
शीतल छाया की सी-समीर, चलती तटिनी के तरल तीर,
लाती जल कण, अकुला नयन, चुभा सुप्त बाला के तीर,
शीतल छाया की-सी समीर, चलती तटिनी के तरल तीर
ऐ सिहर रहा थर थरा गात, जीवन विलास का यही प्रात,
यह प्रथम दिवस वर्षा सुवात
यह श्रावण की सीरी सुखद बात
बस इसी कुंज में घनाकार है जहाँ अँधेरा महाकार
हो रहा मिलन प्रान्तर निर्जन दे रहे परस्पर जुड़े प्यार,

उमड़ी सरिता बहती-पद-पद पर छोटी-छोटी धारें नश्वर
यह मधुर मिलन, उतप्त मिलन, होगा प्रेयसि यह सदा अमर !

रिषि-पर्णा

शापित दानव वे शैल नही, जिन के उर में जल-धार नही !
नयनों में अभ्र तुषार धवल, देने को पर कुछ प्यार नही !

किन्नर-कवि

इन शिखरो पर लेटे देख अनेकों बादल,
सूर्य्यातप में पर फैला कर हिम पर कोमल,
कई सानुओं मे गज-गति से विचरण करते,
लख कुछ केसर-भरी घाटियों ओर उतरते,
बैठ हिमालय एक तुम्हारे गिरि पर पावन,
जिस किन्नर ने मुक्त कण्ठ हो गाया गायन,
वह था एक देवता, उस का राग अमर था,
वह गीत सुनसान पर्वतो के शिखरों पर
बहता नव-समीर-सा बादल-पर फैला कर
शून्य घाटियों मे मधु रस की बरसा करता,
अपने स्वर से मूक हिमालय मुखरित रखता,
फिर वसन्त में फिरता था भागीरथी तट पर,
देवदारु के गिरि-बन में एकाकी सुन्दर,
एक अमर कवि, जब शिखरों पर कज्जल जल-धर,
झुके हुए थे नील कर रहे उच्चगिरि-शिखर,

वह कवि बैठ एक स्फटिक की स्वच्छ शिला पर,
लगा देखने तुम्हें हिमालय, सुचकित होकर,
मधुर मेखला तक करते संचरण सघन-घन,
बरसाते घन कुहरा, अधकार नव जल कण!
और शिखर पर फैली किरणें कान्त सुनहली,
जहाँ धूप सेवन करती सुर-सिद्ध-मंडली,
देख दृश्य यह त्रिभुवन मोहन प्यारा न्यारा!
उमड़ी कवि के उर मे नव गीतों की धारा.
मानव-कंठों में उस दिन के गीत मनोहर,
बसे रह गये, भूल न पाये चारु मनोहर!

शुभा गिरा

अर्द्ध विकसिता शशिनी-सी नीले नभ-जल मे,
देखी मै ने शुभा गिरा, वन-वासिनि सरला!
गिरती-सी धीरे-धीरे हिम-गिरि-गह्वर में,
कंपित वसना, वह मुसकाती मोती धवला,
नव तपस्विनी सीता-सी; खुल गया विश्व-दल,
सुरभि सदृश निर्मल प्राण स्वच्छन्द बन, लगे
मॅडराने नभ-तल पर, छूने पद-तल कोमल
तारे—तारे से परिचय संबंध अब जगे
प्रति विराध में वह गंधर्व—शरीर मनोहर!
प्रति जड़ पत्थर में गौतम-सगिनी अहिल्या!

हँसी-हरण से पाप-नाश, औ अमर कलेवर,
हुआ अलक्षित, नारि-नारि बन कर कौशल्या,
मुझे चूमने लगी नयन गोदी में भर-भर,
आदि सृष्टि के साम गीत गूँजे उर-तल पर !

सूना नभ

तारे लगे झरोखों से चाँदनी देखने,
जिस के अग लगे थे धीरे धीरे खुलने,
और लगे कितने ही उस शोभा मे घुलने
आज खिलेगी नही चाँदनी सूने नभ पर
नहीं जानते यह, ये प्रेमी तारे सुन्दर !

अतृप्ति

देख कर भी रात-दिन मै, स्वर्ग-सुदर
हिमालय से प्राण अपने भर न पाया,
नयन में वह चारु शोभा धर न पाया,
धन्य वे जन एक बार उसे निहारा,
औ, दृगों में बस गया सौन्दर्य सारा,
आमरण बहती रही आनद धारा !
किन्तु मै प्रति दिन हिमालय देख कर भी
सदा भूला ही, नयन मे धर न पाया !

शकुन्तला

मै शकुन्तला पढ़ते-पढ़ते पहुँच निद्रा के आश्रम मे,
परदेशी देख शिखी बोला, उत्तेजित हो तीखे स्वर मे;

वह विरहकृश मालिनी पकड़ मेरी छाया निज अंचल में,
चुपचाप निरखने लगी सिमिट निज कूलों में,छिछले जल मे,
पतझड़ प्रभात था, बिछे हुए थे पल्लव तरु से गिर, पथ पर,
पद रखते ही रो उठते थे वे चूर-चूर हो मर्मर कर,
थे शकुन्तला के दारुण दुख से दीन खड़े बन के तरु बर,
सूखी बाँहों वाली छाया थी गिरी हुई उन के पद पर,
मै दुर्वासा के शाप सदृश था घूम रहा, उस आश्रम मे,
जो वज्र-सदृश ही सदा रहा, अभिनन्दित हुआ न जीवन में,
मै जहाँ गया, पीछे-पीछे मेरे आया उर्मिल रोदन!
बस एक मृत्यु की साँसों ने ही किया था अभिनंदन!
गिरि के शृ गों से थी लौट रहीं किरणें दुर्बा पर नीचे को,
गिरि के पैरों पर पड़ी हुई मालिनी नदी से मिलने को,
वह था प्रभात, पर आश्रम मे थी निशि की नीरवता छाई,
थे मौन खगो के मुखर कंठ, देते न तपोधन दिखलाई,
शून्य नदी के उन घाटो पर सूनापन था करता स्नान,
था कभी-कभी मारुत आता, जाते देख आश्रम के प्राण,
काश्यप क्या छोड़ गये आश्रम? मुझ को संदेह हुआ सहसा,
जो वेद-मुख आश्रम लगता था, एक उपेक्षित बीहड़-सा!
मै लगा देखने खोया-सा, आश्रम की मरती सुन्दरता!
संध्या-गिरि-सा,नभ के उर पर मरती किरणो की कोमलता,
मै ने सहकार भुजाओं में देखी बन-ज्योत्स्ना कुम्हलाई,

अज की बाँहों में इन्दुमती-सी पुष्पघात से मुरझाई !
गिरते थे एक-एक कर के उस के जीवन के सब किसलय,
दल—दल करते थे बिखर रहे,
उस के जीवन के सब किसलय !
जग की सुन्दरते ! हे शकुन्तला की प्राण—प्रिये !
हे कल्प-लते ! मानव-मन से ! हे शकुन्तला की उर छाये !
क्या तुमने भी सुन ली दारुण वह, शकुन्तला की त्याग कथा ?
जो असमय ही तुम जाती हो, हो कर सहसा ही वज्र-हता !
अब जग को किसलय देने में, क्या सुख होगा बासन्ती को !
अब गाने में क्या सुख होगा रति-पति के धनु की भ्रमरी को !
किस का मुख लखने आवेंगी, अब भू पर हिम की किरणें !
सहकार भुजाएँ नत होंगी, अब से किस प्रेयसि को मिलने !
मै आँखों मे आँसू भर कर रहा देखता बन-ज्योत्स्ना को,
पर्वत के पीछे डूब रही, पीली प्रभात की ज्योत्स्ना को !
इतने में मुझे सुनाई दी, प्राणों में चुभती-सी सिसकी,
उर विद्ध हरिण-सा विकल हुआ, आँखों में कठिन व्यथा झलकी !
पास ही एक झुरमुट भीतर, मैं ने देखी दो छायाएँ,
पेड़ के सहारे पड़ी हुई, मृत—सी आश्रम की कन्याएँ ।

श्रीराम-निवास १

वहाँ सुबह ही आ जाती थी धूप, शाम तक

१—डाली गंज लखनऊ मे हसन गंज पार मे यह घर है

वह रहती वही घूमती कभी खिड़कियों
के डंडो को पकड झूलती, कभी किवाडों
के बाहर हो खड़ी, सुराखों की राहो से
हँस हँस कर कमरे के भीतर सोने की सी
पतली कोमल दृष्टि गिराती, वहाँ हवाएँ
करती रहती थीं हर घडी मनोहर गुंजन,
दीवालों पर टंगे हुए कुर्तों की बाँहें,
कभी हिलाती कभी लीडरों की तस्वीरों
को हल्के झोंके देती, चुपचाप कभी आ
खुली किताबो के पन्नों को पलटा जाती,
सड़क सामने थी उस घर के, जिस के ऊपर
भूले भटके आ जाते थे इक्के वाले,
शून्य स्थान था वह, जिस में हम तीन जने थे
एक साथ रहते,[1] तुम शुक-से, पढ़ते ऊँचे स्वर से,
गोस्वामी[2] जी के पीछे तुम बुरी तरह से
लगे हुए थे भरी हुई थी मेज तुम्हारी
गोस्वामी जी के ग्रन्थों से, जितना ज्यादा
तुम पढ़ते थे, [3]भ्राता उतना ज्यादा सोते थे,

१—शंभुप्रसाद बहुगुणा

२—तुलसीदास

३—गुलाब सिंह राणा

निश्चिन्त भाव से, अपने मुँह को ढक कर,
और, कभी तड़के ही [१] 'जुपलू भाई' अपनी
बन्दर-मार-छड़ी' को लेकर थे आ जाते,
छोड़ चप्पलें दरवाजे पर, कमरे मे दाखिल हो
करने लग जाते थे वे गरम-गरम बातें,
और बन्दरो की मत पूछो, बिना बुलाए
वे आ कर के थाली से रोटी ले जाते,
महाराज को कभी डराते 'खाँव-खाँव' कर,
दर्पण कभी चुराते, और कभी चम्मच ही,
ऊधम करते, उछल मचाते, कूद मचाते,
पाइप के ऊपर चढ, उसे खोल पानी पी,
उसे खुला ही रहने देते शैतानी से!
अरे! बड़े ही थे बदमाश वहाँ के बन्दर,
एक रोज तो सब्जी ही उठा ले गये,
पर अच्छा ही हुआ, किसी का भला तो हुआ!
खुली हमारी रहती थी खिड़किया, जो कभी
हर लाती थी आँखो के आगे मेघो को
कभी चुरा बिजलिया कभी बहका तारो को!
भादो मे जब झूम-झूम थी घटा बरसती,
तब सुन पड़ती थी, कजरी[२] की मीठी तानें,
आस-पास, घर-घर मे तब ढोलक थे बजते!
थी चूड़िया छनकती, और, लोग थे गाते!

१—यशवन्त सिंह नेगी

पर न रह सके साथ-साथ हम बहुत दिनों तक
उस मकान मे, हमें अलग तो होना ही था।
आज यहाँ मंदाकिनी के इस सुन्दर तट से
हरे-भरे खेतो के बीच छाँह मे बैठा,
मै बाँसुरी बजाना थोड़ी देर भूल कर,
भेज रहा 'श्री राम', 'भवन' अथवा 'निवास' को
अपना आधा बरस, इसे स्वीकार करे वे,
और कभी यदि फिर मै लखनऊ को आ जाऊँ,
मुझे एक दो दिन वे अपने पास जगह दे।

मार्च १६ ४१ ई

एक कुत्ता

रात पड़ गई चारो ओर गोमती-तट पर
लगी बोलने तीक्ष्ण झिल्लियाँ और हवा में
लगे काटने चक्कर, बड़े-बड़े चमगादर,
चला गया था शरद, गगन मे अन्धकार था;
पृथ्वी के मुख पर छाया था कुहरा दुस्तर,
इसी समय गोमती-बाँध से धीरे-धीरे
घर को आते समय, धूलि से भरी राह पर
पड़ा हुआ देखा मैंने छोटा-सा कुत्ता,
मुँदी हुई थी आँखे उस की पूँछ शिथिल हो
पड़ी हुई थी शुष्क धूलि मे, हाथ पैर थे

आस-पास बिखरे शरीर के कटे हुए से,
वह था एक श्रान्त सैनिक-सा जो जीवन-भर
कर अविराम युद्ध जीवन से, क्षत विक्षत हो
अन्तकाल में लेट गया था गहन मृत्यु के
दीप-हीन प्रागण में हार मान कर अपनी;
मुदी हुई आँखें थी उस की, उस ने जीवन
ऐसा देखा था, जिस को वह किसी भाँति भी
फिर न चाहता था पल भर भी कही देखना,
भय न शेष था अब कोई निश्चल प्राणो मे,
क्यो कि शेष आशा न कही थी, इसीलिये तो
मोटर के भोपू सुन कर भी निर्भय हो कर,
पड़ा हुआ था वह जीवन से निस्पृह हो कर,
गंध दूर खाने की सूँघ, लोभ से उस की
जीभ न अब टपकेगी, अब उस ने जीवन मे
थी विजय प्राप्त कर ली, रोटी के टुकड़ो के
लिए न मार सहेगा वह सौ-सौ डंडो की,
ओ मानव ! कठोर मानव ! दुर्बल था तो भी
वह था मित्र तुम्हारा ही तो, इसीलिए तो
सह इतने अपमान, लाञ्छना इतनी, फिर भी
वह आता था लौट तुम्हारे ही द्वारो पर,
आह ! गोमती के तट पर चुपचाप धूल में
लेट गया था वह, उस के माथे के ऊपर

मँडराते चमगादर, उसे घेर कर काली रात
सो गई थी, उस की सच्ची माता-सी।

१४ अक्टूबर १६४० ई०

बाँध पर गोमती

बाँधने रोका उसे बाँहें बढ़ा कर,
शान्त चलती गोमती को याद आए
गये बचपन के दिनो के शैल वे,
रोकते थे जो उसे बाँहे बढ़ा कर,
और जिन को चूम वह थी दौड जाती,
दूर निर्जन घाटियो मे हँस मधुर!
याद आए गोमती को शैल वे,
और सहसा हँस पडी वह, बाहुओं मे
बाँध की पड, भूल अपने आप को,
बन गई फिर कुछ क्षणो को वह वही
केश खोले, पर्वतो के बीच हँसती,
और भीषण नृत्य करती, मदिर नयना गोमती!
वे गरजती उछलती चचल तरगें,
जो शिलाओ पर कठिन आघात कर,
मोतियों मे बिखर जाती, काँपती,
दौड़ती जो हर्ष से वे ही तरगे

लौटने करने लगी कलरव मधुर, उस वक्ष मे
किन्तु कुछ ही देर मे उस के चरण भी
थक गये, उस का क्षणिक उत्साह भी
श्रान्त हो कर गिरा उस के वक्ष पर,
मद चलती और रह-रह हाँपती
सजल नयना गोमती बन, आह भर कर
खो गई चुपचाप वह धूमिल क्षितिज मे !

एक प्रिय कवि को

एक समय था तुम बसत की इस दुर्वा पर
बैठ देखते थे हिमगिर का हास मनोहर !
तुम चलते थे और तुम्हारे पीछे-पीछे
चलती थी नीरव छाया फूलो के ऊपर,
नव-वसंत की शोभा से अपनी अजलि भर,
एक समय था तुम इन प्रिय तरुओं के नीचे
गाते थे पिक-से विह्वल स्वर मधु रजनी भर!
चले गए वे दिवस, आज तुम एक चित्र-से
मौन खड़े हो शोभा की चित्रित भीतों पर!
मौन तुम्हारा कठ हो गया मूक प्रिय अधर!
बदी हुआ तुम्हारा रूप स्वरो के भीतर !
चले गये तुम दूर आज नश्वर फूलों से
चिर-चंचल नदियो से, अस्थिर चित मेघो से,

अमर लोक मे जहाँ सदा फूलो के ऊपर
झुके हुए रहते है नीरव प्रेमी मधुकर,
जहाँ स्वच्छ हिम के निर्जन-पर्वत-शृंगो पर,
छाई रहती संध्या सदा एक रस सुन्दर !

हे मृत्यु देव !

मेरे सुख पर क्यो हे तुमने अश्रु गिराए ?
मेरी आँखो को क्यो ऐसे दृश्य दिखाए ?
सूखी नदियाँ, सूने भवन, उजडते कानन,
झरते फूल, दुखो से पीले पडते यौवन !
आज मधु निशा थी, मेरे अधरो पर
फिरते थे पृथ्वी के सुख के स्वर आ-आ कर
मेरे नभ मे घूम रहा था पूर्ण सुधा-कर,
मेरी कुञ्जो मे मधु फिरता था गा-गा कर,
देख रहा था मै सपने अपनी प्रेयसि के,
देख रहा था दिन लज्जा के और हँसी के,
इसी समय तुम हाय कहाँ से आहें लाए !
मेरे सुख पर क्यो हे तुम ने अश्रु गिराए ?
मेरी सुख की गंगा के सूने तट पर आ
रो जाती है एक वधू, जिस की सिसकी का—
स्वर सुन कर, मेरी लहरे सहसा रुक जाती
और न फिर अपने पथ पर हँस कर चल पाती,
स्वप्न देखता रहता मै जब हरित-द्रुमो के

गुञ्जन के, भ्रमरो के सौरभ के, कुसुमों के,
उसी समय मेरे आगे सूनी साँसे भर
आ जाती है एक लता मारुत से झर-झर,
झरते रहते जिस के पत्र, और आखो पर
भरी हुई रहती मुरझाई कलियाँ सुन्दर!
उठ प्रभात मे उज्ज्वल आशाओ से भर कर,
चलने लगता हूँ जब मै दुर्गम गिरि-पथ पर,
इसी समय तुम हाय कँहाँ से टूटे-फूटे
एक पथिक को ले आते हो, तन से छूटे—
जिस के धैर्य और उत्साह, करुण साँस भर
जो मरता रहता दुर्गम गिरि-पथ से गिर कर!
तुम्हे क्या कहूँ मेरी मुस्कानो के उर को
चीर अश्रु पीने वाले, मेरे सुख-स्वर को
करुण बनाने वाले देव! कहें क्या तुम को!
फूलो मे तुम हाय न रहने दोगे मुझ को,
प्यार न करने दोगे कभी किसी को भू पर!
तिक्त अमृत कर दोगे मेरा, विष मिश्रित कर!
मै चलता हूँ चलो जहाँ उजड़े नगरों में,
सूखी नदियो के तट पर सुनसान स्वरो मे
अन्धकार में तुम रहते हो आहे भरते,
अपनी सासो से पृथ्वी को पीड़ित करते,

जहाँ फूल खिलते न कभी भी कही वनो में,
जहाँ सुरभि बहती न कभी भी वन-पवनो में,
जहाँ कही भी नभ मे आता नही सुधाकर,
जहाँ न कोई दुख को हलका करता गा कर,
वहाँ तुम्हारे साथ रात-दिन आहे भरता,
मेरा हृदय, निठुर तुम को तब मेरे दुख से
होगी ईर्ष्या नही जरा से मेरे सुख से
तुम्हे हुई थी जैसी ईर्ष्या जल-जल कर जो
भस्म कर गई थी मेरे सुखमय जीवन को !

खंडहर

साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर,
दूर पुरो मे दीपो की मालाएँ जलतीं,
वहाँ सुरा नयनो मे चचल हो कर हिलती,
वहाँ गीत-नृत्यों से मुखर अधर व पद सुन्दर,
साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर,
शहनाइयाँ वहाँ वधुओ को गृह मे लाती,
पुर-नारियाँ मधुर मगल गीतो को गाती,
वहाँ वधू मिलती ,वर से आँखे नीची कर,
साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर !
माताएँ शिशुओं को अपनी गोदी मे भर !
खड़ी देखती रहती पथ की शोभा सुन्दर,
जाता उत्सव जहाँ मधुर मुरलियाँ बजा कर,

साँसे भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर,
झुकी हुई हैं वहाँ कुसुम छवि से वल्लरियाँ,
छायाओं में पड़ी अलस लोचना सुन्दरियाँ,
मधुप जा रहे गुन-गुन कर फूलों-फूलों पर,
साँसे भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर!
उस ने भी चाहा था जीवन स्वर्ग बनाना,
मणि दीपों से अपने उज्ज्वल कक्ष सजाना,
गाना, फूलों से अपनी अंजलियाँ भर-भर,
कौन जानता था वह होगा एक खंडहर!
कहाँ गईं वे माताएँ! वे बहने प्यारी!
कहाँ गये वे शिशु, जिन की कोमल किलकारी,
कर देती थी कोने-कोने मुखर मनोहर!
स्तब्ध खड़ा वह आज धरा पर बना खंडहर.
कहाँ गये वे युवक! मधुर स्वप्नों से क्षण भर
जो उतरे थे उस में दीप प्रभाएँ ले कर!
चले गये जो उस का जीवन शाप बना कर!
रोता धीरे, अंधकार से भरा खंडहर!
कहाँ गये वे पुष्प सुरभि जीवन की ले कर!
कहाँ गये वे विहग गीत-ध्वनियाँ ले सुन्दर!
घिरा झाड़ियों से सुनता उलूक के घन स्वर,
सोच रहा है विस्मित हो कर आज खंडहर!
उड़ी आह! कितनी जल्दी आशा जीवन की!

दो ही पल मे हँसो व्यथा बन गई नयन की।
इन्द्रधनुष से गिरा वज्र दारुण गर्जन कर।
वह उज्ज्वल प्रासाद टूट हुआ अब खडहर।
अब न प्यार करती हैं उस को रवि की किरणे,
अब न हिलाती उस की अलकें मधु की पवनें,
अब न वसन्त हृदय छूता उस का गुन गुन कर
केवल साँसें भरता है वह दीन खडहर।
अपने स्वप्नों की समाधि बन आज खड़ा है,
उस के सर पर कई युगों का शाप पडा है,
डरता स्वयं आज अपनी ही छाँह देख कर
साँसें भरता है पृथ्वी पर खडा खडहर।

प्रिय जीवन यदि

प्रिय जीवन यदि शेष रह गए तुम इस तन मे,
इस जर्जर तन मे
मै ले जाऊँगा तुम को जग के वन-वन मे,
प्रिय जग के वन-वन मे,
सरिताओं के तट पर हम मृदु गान सुनेंगे.
गाएँगे आँखे भर,
हम वसन्त मे खिले अधखिले फूल चुनेगे
बाँहों मे बाह धर,
याद करेंगे कभी आह भर उस जीवन की,
सपना बन जो बीता,

जिन के बिना न सुख देती शोभा त्रिभुवन की,
लगता जग भर रीता,
विपिनों में वसन्त आएगा जब हिल-हिल मर्मर,
ओठों मे कुछ गाता
जब दूर्वा से औ फूलों से जाएगा भूतल भर,
पृथ्वी हो मधु-स्नाता—
बोल उठेगी जब सौ-सौ सुकुमार स्वरो मे,
जल थल और गगन में
तब न रहेंगे हमी व्यथा भर कर अधरो में
आँसू भरे नयन मे!
सीखेगे हम होना सुखी, विश्व के सुख मे
सीखेंगे मुस्काना,
सीखेगे पृथ्वी को हँसती देख हृदय को
दारुण व्यथा भुलाना!
सीखेंगे अपना सब कुछ खो नभ के नीचे
सूनेपन मे जीना,
सीखेंगे प्रसन्न रह कर अपने हाथों के
कटुतम विष को पीना!
किन्तु किसी दिन भूल हृदय की इस शिक्षा को
बरस पड़े यदि आँखे,
देख विश्व मे हरित सभी को शून्य देख कर
केवल अपनी शाखें!

आशा है आँखों मे आँसू भर यह धरती
हम को क्षमा करेगी
आशा है मरने के समय हमे भी अपने
उर पर धर सुख देगी !

शून्य कमरा

यह अकेला शून्य कमरा, यह अकेली चारपाई,
गरीबो, बीमारियों के हाथ, यह ऐसी तबाही ?
किसी से मिलना न जुलना, ये घृणित बातें सभी,
भाग्य ने दीं तुम्हें या तुम ने हृदय थी स्वय चाही ?

चुप रहे

यदि एक रोज का दुख होता, तो मै सहता, सुख से सहता !
तुम मुझे दण्ड देते जितना सहता, न किसी से कुछ कहता !
पर यह वर्षों का शोक, और तुम मुझ को इतना सता रहे,
तिस पर भी करते चाह कि चुप रहे न किसी से कुछ कहे !

दया मृत्यु में

दया मृत्यु में है पर मेरे जीवन तुम में दया नहीं,
जिला रहे जैसे तुम मुझ को, जाता वैसे जिया कहीं !
मुझे जोत रथ पर अधे हो तुम चाबुक कसते जाते,
घूम रहा सिर, मेरी टाँगे देखो कितनी काँप रही !

मैं जीता हूँ

प्रिय जीवन, विना तुम्हारे भी मै जीता हूँ, मुसकाता हूँ,
दिन भर पृथ्वी के मंचों पर निज हाथ उठा कर गाता हूँ,

पर जब होता एकान्त और मुझ को न देखता है कोई,
तब मुझे शोक होता कितना जब पास न तुम को पाता हूँ।

उद्‌बोध

सुबह की न सोच हृदय, बीच में रात है,
जंगली सडक और चोरों का साथ है,
हो सकता यही शाम आखिरी शाम हो,
हो सकता-देखना तुझे न फिर प्रात है।

न होना था

न होना था इसी से हो न पाया,
उसे जाना था इसी से रह न पाया,
किए सब ने कह हृदय के भार हलके,
उसे कहना था इसी से कह न पाया,
चोट वह सब पर पडी थी एक-सी,
उसे मरना था इसी से सह न पाया।

पुनः सूर्य्य की

पुन: सूर्य्य की किरण गिरी जब मेरे मुख पर,
आँसू से आई मेरी दुखिया आँखें भर,
लाये तुम प्रकाश जीवन का फिर त्रिभुवन में,
मेरे लिए कौन-सा सुख लाए तुम दिन कर।

हिम शैल

ये शैल हैं या देवता ?
इनके हृदय पर चमकता यह श्वेत हिम या अमरता ?

ये मेघ हैं या शुभ्र इन के भाव, नभमें उड रहे ?
हैं नदी नद ये कि इनके हृदय तल की सजल ममता ?

काफल-पाक्कू

पुन वही स्वर—आज कई वर्षों मे दर्शन,
पुन· वही स्वर—बदला कितना मेरा जीवन!
पहले तुम को देख चरण चचल होते थे,
आज उमड़ता है मेरी आखो मे रोदन!
'पके, बनों मे काफल,' तुम अपनी वाणी से
भेज रहे हो मुझ को पहले की तरह निमंत्रण,
शिथिल हो गए चरण, बधु! किस तरह आज मैं
करूँ तुम्हारे इस प्रिय आमन्त्रण का रक्षण?
कैसे जाऊँ दौड़ वनो मे? चढ़ पेडो पर,
कैसे करूँ हवा मे हाथ उठा कर नर्तन?
कैसे तुम्हे चिढ़ाऊँ कर अनुकरण तुम्हारा?
किस प्रकार लाऊँ लौटा कर अपना बचपन?
खिची दीर्घ रेखाएँ अब मेरे मस्तक पर,
भुला दिया मेरे प्राणों ने अपना कूजन!
गाओ बधु, तुम्हीं उड़-उड़ कर काफल खाओ!
बदल गया पहले से बुरी तरह यह जीवन!
पहले तुम को देख चरण चचल होते थे,
आज उमड़ता मेरी आँखो मे कटु रोदन!

भीषण निश्चय

बैठ मृत्यु के द्वारो पर भीषण निश्चय से
मै गाता हूँ यम का यश, वैवश्वत यम का,
क्षीण कण्ठ है. मेरा, क्षण-क्षण पडते जाते
मेरे हाथशिथिल, मेरा उर कुटिल मृत्यु ने
छान कर दिया चलनी-सा, जीवन की धारा
कभी बह गई, इस से यदि पूरा न गा सकॅ
यदि न तुम्हारा पौरुष शब्दों मे उठा सकूँ,
तो न कुपित होना हे गहन मृत्यु के स्वामी !
मुझे क्षमा करना हे यम, हे अन्तर्यामी

यम

सुनता हूँ गूँज रही महिष-कण्ठ-किंकिणी, मेरे उर देश मे,
हे यम ! मूर्छित हो पड़ी श्याम रजनी, इस कराल वेश मे,
आँखो में धूम्र-केतु, पाश कठिन करों मे, महिप पर चढ़े हुये,
हृदय में कठोर शिला, मुख मे अँगारे, अलकें फुफकार रहे !
काँप रही चरणों मे भिन्न-भिन्न धरणी, सिहर रही काया,
प्राणों मे भीम-नाद भैरव का आया !
छोड तुझे छिपी आज, पृथ्वी, तम-गर्भ मे, उठ रे नादान हृदय !
पोंछ क्षीण लोचन जल, आज तू अकेला, तज रे जीवन-भय !
छोड कम्प दीन हरिण, सिंह के नखों मे, डाल शीश अपना,
भस्म हो नगण्य लोक, प्रलयङ्कर रुद्र की पूरी कर वासना !

मृत्यु देव आये हैं अतिथि बन तुम्हारे, करो शंख घोषणा,

महा अतिथि चरणों को जीवन दे पूजना !

एक फूल चुनने को, मुरझा, मिट्टी का, स्वय आप आए !
एक पत्र करने को छेदन संसार से, वज्र-शिखा लाए !
करने को उदर-लीन, एक क्षुद्र निर्झर, महार्णव स्वय चले,
करता जो सदा रहा आप की प्रतीक्षा उसे जीतने निकले,
ले कर घन घोर चड प्रलय-जलद-जाल-सी अंतहीन वाहिनी !

गाता मै आर्दकठ स्वागत की रागिनी !

जीवन के तीव्र-ताप से विदग्ध प्राण की, शरण चरण आप के !
आशा से छले हुए रोते अभिमान की शान्ति चरण आप के!
पा कर के परस, नाथ ! आप के प्रहार का, जीवन की क्षुद्रता
जाती बन, पारस से हुए हुए लौह की, हिरण्यमयी रुद्रता !
जाता उठ ऊपर वह काम; क्रोध-मोह से, जन्म-मरण-जाल से,

नाथ ! जिस के खीचते प्राण विश्व-डाल से !

ऊपर से रुद्र-रूप, भीषण-संहार मूर्ति, अंतर जननी का !
हाथों मे तीक्ष्ण अशनि, अ तर में करुणा, उमडती असीमा,
अन्तर है देख लिया, जिस ने प्रभु आप का, उस को भय फिर कहाँ!
मुझ को ले चलो मृत्यु-चिर-प्रकाश लोक मे, अमरों के साथ जहाँ,
करते है सोम-पान पूर्व-पुरुप मेरे, देवता बने हुए,

जन्म और मरण के चिन्तन से मुक्त हुए !

ज्योति में

और नीचे डुबाओ !
मुझ को मरण के चरण-तल तक डुबाओ
नीचे डुबाओ !
अँधेरा इतना हृदय में हो कि रह जाए न आशा,
सदा को मिट जाँय सुख दुख, हर्ष और निराश भाषा,
दग्ध उर के कलुष सब हो जाँय जलते आँसुओ से,
जब प्रभो, केवल तुम्हारी लालसा उर मे रहे,
शुद्ध हो जावे हृदय जब शुभ्र हिम-सा,
तब अतल उस शोक-सागर से मुझे ऊपर उठाओ !
ज्योति से पूरित कमल-सा, ज्योति मे ऊपर उठाओ !
और ऊपर उठाओ, ऊपर उठाओ !

हे नाथ

हृदय के सब पंथ मेरे, करो, नाथ ! प्रशस्त-सुन्दर,
दीनता, संकीर्णता से करो मुक्त उदास ये स्वर !
शक्ति दो विश्वास की, दुख मे छटा मृदु हास की,
करो अपनी अग्नि से मेरा हृदय निश्छल मनोहर !

३० नवम्बर १९४० ई०

मेरे भगवान

जिस में हो कल्याण, उसी पथ पर दिनमान,
मुझे ले चलो इंगित से मेरे भगवान !
जहाँ कठिन इन कष्टों से पाऊँ मै त्राण,

वही ले चलो मुझ को, हे मेरे भगवान !

हे माँ

अब जैसे आनद न देगा कुछ भी,

मेरे जीवन की ज्योति गई कुछ बुझ-सी,

ओ पृथ्वी इतने लोक चमकते नभ-मे

पाऊँगा मै न कभी माता पर तुझ-सी !

रे चला गया

रे चला गया वह जीवन तो!

आशा बसती थी आँखो मे. गुजन बसता था पाँखों में,

पृथ्वी की शोभा बसती थी मेरी हिलती शाखों मे,

तब आया था वह दो दिन को,अब दूर गया वह जीवन तो!

वह जीवन

कष्टों से यद्यपि जर्जर था, फिर भी वह जीवन सुन्दर था !

निशि-दिन मेघों के भीषण स्वर, जिस नभ से आते थे भू-पर,

उस नभ ही मे चुपचाप कभी, शशि भी हँस जाता क्षण भर था,

वह जीवन प्रिय था, सुन्दर था ! तीखे काँटों से विध-विध कर

रो उठता था जब पीड़ित उर, तब एक कुसुम ही दुख सारा

हर लेता था थोडा हँस कर, सब कुछ खोकर उदास हो कर

जब हृदय बैठ कर द्वारो पर, रोता था, उसे हँसा जाता था

तब स्नेह किसी का आ कर, रोगो-शोको से घिर निशि-दिन

रोता ही रहता था जीवन यद्यपि वह, फिर भी उस मे ही,
मिलता यौवन भी पल भर था, वह जीवन प्रिय था सुन्दर था !
शु० १३ नवम्बर १६४२ ई०

और अब ?

वह पुराना साथ छूटा, काल ने
मुझको अहा ! इस तरह लूटा !
अब जुटे कैसे अनोखे साथ वाले !
कर्म काले, और जिनके हृदय काले !
मास लोलुप गिद्ध से मेरे हृदय पर
जो झपटते कर प्रसारित स्वार्थ के पर,
भोकते मेरे सुयश पर नाम को,
गालियों से काटते बिगड़ैल हो !
वह पुराना साथ हाय ! कहाँ गया !
जब पुराने काव्य ग्रन्थों मे नया,
सौख्य थे हम ढूँढ़ते, जब प्रेम से
बीतते थे दिन कुशल औ-क्षेम से,
पास थे तुम शभु ! विक्रम पास था,
हृदय मेरा तब कभी न उदास था,
और क्या हूँ अब न कुछ पूछो मुझे !
आ गया मै तग इस [1]हरदत्त से !

---

१ — अगस्त्यमुनी स्कूल के सेक्र टरी! तब १६४६ में चन्द्रकुँवर इस स्कूल मे काम कर रहे थे।

तब अब

जब मरण था पास इतने, प्राण रहते पास जितने,
याद है ? तुम को हृदय, मैंने रुदन कितना किया था ?
याद है ? वह मुख जिसे मैं लोचनों में भर जिया था !
गये वे दिन दूर इतने, मेघ रहते दूर जितने !
मरण आज नही कही, भरी फूलों से मही,
बोलते खग घाटियों मे; पवन रह-रह बह रही,
मुझे घर की ओर फिरने के लिए वह कह रही,
जहाँ अब कोई नही, भरी फूलों से मही !

भूल गया था

कुछ दिन पहिले काया को लख पीली पड़ती,
मृत्यु देव के चिन्तन में दिन-दिन कुम्हलाती,
खाना-पीना छोड़ विरहिणी-सी तज हँसना,
रोती शय्या-शायिनी अतिशय दीना-हीना, काँप उठा था मैं,
लख शिशु को कुम्हलाते जननी के प्राण व्यथा से,
कातर हो जाते, मैं रोया असहाय विश्व में जैसे
मेरे ऊपर कोई शक्ति न थी ! उर की जिस के,
दीनों की प्रार्थना कँपा देती है छल-छल !
जिस की करुणा दुखियों का है एक मात्र बल,
और विश्व में मूर्तिमान उस के प्रतिनिधि को,
मेरे मित्र रूप में आये करुणानिधि को,

भूल गया था [1]तुम को भी मै अपने दुख में !

सुयश देना

थक तुम्हारे चरण जावें यदि, मुझे तो भुजाओं मे
भर उठा कर बहन करने का सुयश देना हे सदय हो !
शिशिर आवे, जब गिरे सब पत्र जीवन के,
धूल में मिल जॉय जब अभिलाष तन-मन के,
तब मरण की राह पर चलते समय हे,
भूल तुम जाना न मुझ को, हे सदय हो !

दो दिन

एक दिन था जब तुम्हारी चाह थी,
खोजती जब तुम्हें मेरी आह थी,
एक दिन है आज भी, मुँह फेर कर,
जब कि मै हूँ खडा तुमको हेर कर !

वह

हॅसता है कभी वह, कभी रोता है शोक से,
दूर वह चला गया, अब इस नर लोक से,
पूछेगा कौन उसे, रहता अब वह कहाँ ?
दूर...दूर कल्पना नहीं पहुँचती जहाँ !

१—श० प्र० बहुगुणा

भूल

मैने मोचा था जब मुझ पर शोक पड़ेगा,
मेरे साथ-साथ रोएगी प्यारी दुनिया,
रोता हूँ मै आज अकेला. देख रहा हूँ,
हँसती है मुझे दिखा उँगली सारी दुनिया!

भ्रम

मैने कहा, बहुत से मुझे प्यार करते हैं,
दुख ने उन सब को चलनी मे छाना;
और अन्त में मैने देखा, इस पृथ्वी मे,
मुझे प्यार करता था मै ही, और न कोई!

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ

अपना मै जिसे समझता था, उस से तो दुश्मन था अपना,
सच्चा मै जिसे समझता था, उस से तो सच्चा था सपना,
विश्वास किया मै ने जिस पर, जिस को समझा सदैव अपना,
जब वक्त पडा वह अपना ही तब दुश्मन से भी बुरा बना!

छूट जिस दिन

छूट जिस दिन तू अकेला जायगा, जब न कोई पास तेरे आयगा,
सोच मत कर, तू उसी दिन हृदय मे,
देख अशरण शरण प्रभु को पायगा!

दुश्मन की खुशी

देख अपने सुहृद को मै ने कहा—"मित्र,
कुछ भी आश जीवन की नही!"
किन्तु दुश्मन की खुशी को देख कर,
आश भी मुझ को अचानक मिल गई!

मिलन

आँखों में आँसू भर मेरे आगे बैठी वह मौन रही,
मै भी चुप रहा, न मै ने ही मुँह खोला, कोई बात कही!
आखिर आँखों को पोंछ शनै आगे से उठ वह चली गई,
तब मै ने कहा-किया उस ने जो कुछ भी वह था बहुत सही!

जैसी करणी

भाग्य की ओर कर बद्ध-दृष्टि मै करता घृणित कुकर्म रहा,
आखिर जब दंड मिला मुझ को मै ने रो कर भाग्य से कहा,
"मै तुम्हे देवता समझे था पर तुम थे राक्षस क्रूर मना!"
वह बोला—" मुझे तुम्हारे ही कर्मो ने राक्षस दिया बना!"

असमर्थता

जब होगी मधु-रितु फिर होगी, मेरे कहने से क्या होगा?
होगा पावस मिति पर, आँसू तेरे बहने से क्या होगा?
काल-चक्र जो घूम रहा है, मेरे रोके वह न रुकेगा,
बहती सरिता, मेरे तट पर रुक कर रहने से क्या होगा?

वीर-बानगी

संघर्षों से घबरा जाना, यह तो है मर्दानगी नहीं,
अपने को सदा बचा रखना, यह वीरो की बानगी नहीं,
वे लडते हैं अपने तन को, खतरों के बीच डालते हैं,
इज्जत के आगे कुछ चिन्ता, उन को अपनी जान की नहीं,
मर्द बन हृदय, मर्द बन हृदय, कोने मे रोना छोड़ आज,
बाहर आ, राहें जाती हैं, उत्तर-दक्खिन को सभी कहीं,
दुर्बलता मे क्या मजा है, है मजा सदा ताकत मे ही,
ताकतवर बन तू, तुझे फिकर क्या है अपने मान की नहीं ?
सघर्षों से घबरा जाना, यह वीरों की बानगी नहीं।

खेल-खतम

ऐसा भी होता है, तो हो मैं क्या करूँ।
वैसा भी होता है, तो हो मै क्या करूँ।
ताकत का खेल सभी, ताक़त मुझ मे है नहीं,
जैसा भी होता है, हो ले मै क्या करूँ।

ईश्वर-इच्छा

मैं ने सोचा अब सकट की घड़ियाँ सदैव को बीत चली।
पर देखा ईश्वर की इच्छा इस से विपरीत बहुत निकली।
डूबे रवि, जीवन की शोभा, सब अस्ताचल की ओर ढली,
मै रोया, ईश्वर की इच्छा पर उस के भी विरुद्ध निकली।
जो बात बुरी मै समझे था, वह थी वास्तव मे बहुत भली,
मेरी इच्छा से ईश्वर की इच्छा उल्टी सदैव निकली।

प्रतिकूल दैव

सब की जो रक्षा करता है, वह ही मेरे प्रतिकूल हुआ!
सब को जो भिक्षा देता है, उस ने मेरा धन छीन लिया!

दिल भर दी

दिल भर दी, आँखे भर कर दी,
उस ने व्यथा हृदय भर कर दी!
मैंने उस से अपर सुखों का वर माँगा था,
उस ने अमर व्यथा मेरी झोली में धर दी!
कैसे हाय! पियूँ मै
मेरे यौवन की पूर्णिमा विकास प्रफुल्लित
उसने घोर अमा-तम में परिवर्तित कर दी!
उस ने इस प्याली में दुनिया भर के
शोकों की कडुवाहट भर दी!

वह

वह कभी कष्ट दे कर भी प्यार किया करता है,
वह कभी स्नेह से भी आंखें भरता है,
वह कभी मुख-चूम धरता है प्राणों पर,
वह कभी कुचलते हुए चरण धरता है,
मिट्टी में था जो बीज उसे भर भर कर,
उस ने नव अंकुर बना निकाला ऊपर,
पाला पोसा, तरु श्रेष्ट बनाया उस को,
फिर चूर कर दिया बनकर वज्र कठिन तर!

उस के हाथों में वज्र, अश्रु दुर्बल नयनों मे !
कर्मों मे निर्ममता, करुणा वचनों में,
वह पिता और जीवन का शत्रु भयंकर,
उस की छाया में शक्ति, नाश चरणों मे,

सुख-दुख

सपनों में धन-सा मिलता है सुख जग मे जीवन को,
बिजली-सी आलोकित करती क्षण भर हसी रुदन को,
पहिन बसन कॉटो के आता दुख बाँहें फैलाए,
निर्मम आलिगन से करता क्षत विक्षत यौवन को,

निस्पृह

फूलों की जब चाह मुझे थी तब काँटे भी नहीं मिले,
जब शशि की थीं चाह मुझे,तब जुगनू भी न कहीं निकले;
आशा और निराशा सब कुछ खो मैं जग में घूम रहा,
अब पग-पग पर मिलते मुझ को क्यों ये इतने फूल खिले,

कमी न

कभी मिला जो सुख न, उसी के स्वप्न देख कर मरता,
कभी सुने न जो स्वर उन्हीं के मधु से मैं जीवन को भरता,
कभी न पाए जो आलिगन याद सदा उन की आती,
रूप जिसे देखा न कभी, वह पलकों को गीली करता,

पीड़ा अपनी

नत तन, शून्य दृष्टि, सजनी! प्रणय मात्र की मधुर कुमुदनी!
चिर सचित पीड़ा अपनी !

मृत्यु

रह-रह काँप रहा मेरा उर, देख तुम्हारे कर में,
काल कूट-सा खौलता जहर हास प्रकंप अधर मे।

बिजली थी

बिजली थी कौंध गई, लहरी थी चली गई!
बादल था वह न गया, पत्थर था वह न बहा!

बिना तुम्हारे

बिना ज्योति के दीपक जैसे,
बिना प्राणके बीज जिस तरह, वैसा ही मै बिना तुम्हारे।

उजड़े स्वप्न

किसी उजड़े देश के स्वप्न विकृत वेश ये,
प्रेत ये बीते सुखों के, स्नेह के कंकाल ये, शून्य में बिखरे हुए।

लिख लो

जब तक दीपक में है प्रकाश लिखलो,
अपने मन की लिख लो।

मेरा दुख

बोल न सकता मेरा दुख, शव-सा निश्चल हो,
वह चुपचाप देखता रहता है जीवन को।

व्यर्थ

व्यर्थ प्रतीक्षा में बीते इतने दिन मेरे,
आशा रही व्यर्थ ही इन प्राणों को घेरे!

मुसकान

वह आँखों से रोकती रही, मुसकान अधर से निकल गई।

दावाग्नि

कौन शान्त है? कौन सुखी है ?
इस दावाग्नि मे पड़ा कौन तृण कह सकता मै हरा बना हूँ ?

हरे पेड़

सूखे तरु को क्यों सखी, होगा सुख उत्साह,
सभी चाहते विश्व मे, हरे पेड़ की छाँह!

शून्य भवन

शून्य पड़े वे भवन, कभी जिन के द्वारों पर,
खडी प्रतीक्षा करती थीं आँखें अति सुन्दर;

इन्द्र

इन्द्र है वह, रूप से जिस के गगन तल भर गया,
इन्द्र है वह, हास जिस का देख कर बिजली गिरी;

पारावार

अब अकेले हो हृदय तुम अकेले ही, साथ कोई भी नहीं,
नील पारावार, टूटी नाव है, कूल हाय, नहीं कहीं!

मुक्ति चिन्ता

कौन करेगा हाय फिर, भारत को आज़ाद ?
रुकी से यदि हो गये, चन्द्र कुँवर बर्बाद ?

पैदल यात्रा

पक्की नावों पर चढ़े, डूबे सब मँझधार,

जो पैदल जल में चले, पहुँचे वेही पार;

इस भँवर में

गिर चुका जो इस भँवर मे घूमता वह सदा रहता,
शाति उस को मिल कभी सकती नही,
सीख जो दिल चुका रोना, वह सदा ही रुदन करता,
झड़ी उस की थम कभी सकती नही,
उड़ चुका जो पत्र तरु से वह सदा ही भ्रमण करता,
स्थिति न उस की पुनः हो सकती कही !
सीख जो गिरि चुका गिरना, धसकता वह सदा रहता,
दूब उस पर फिर न जम सकती कहीं !

मैं बनूँ

मै बनूँ वह वृक्ष जिस की स्निग्ध छाया में कभी,
थे मिले दो तरुण प्रणयी फिर न मिलने को कभी !
मैं बनूँ वह शैल जिस के दीन मस्तक पर कभी,
थे रुके दो मेघ क्षण भर फिर न रुकने को कभी,
मै बनूँ वह भग्न गृह जिस के निविड़ तम में कभी,
थे जले दो दीप क्षण भर फिर न जलने को कभी !
मंगलों से जो सजा था मधुर गीतों से भरा.
मै बनूँ वह हर्ष जाता जो न फिरने को कभी !

अंध तम में

एक दिन मै इस शिखर से जहाँ इन्दुमुखी
उतर कर बालिका-सी खेलती है,

स्वर्ण सिकता मुष्टि मे भर,
मृत्यु के चिर अंध तम मे जाऊँगा निःस्वन उतर !
फूल फूटेंगे धरा पर, मेघ डोलेंगे गगन में,
प्रेम यौवन के सुमन में,
गूँजता होगा भुवन मे, किन्तु मुझ को,
छू न पावेंगे धरा की गंध के स्वर,
मृत्यु के चिर अंधतम मे मैं पड़ूँगा जब उतर,
एक दिन मैं इस शिखर से !

२३ अप्रैल १६३६ ई० हरिद्वार

कुछ नहीं

दीपकी लौ इस हृदय में नहीं जलती,
पवन मेरा बुझाने को कुछ नहीं !
इस हृदय के बीच आशा नहीं पलती,
वज्र, मेरा बचाने को कुछ नहीं !
पत्र मेरे कभी के ही झर चुके है !
पीत भय पतझड कहाँ से दूँ तुम्हें !
रो चुका जी भर हृदय सब के लिये,
अब हृदय मेरा रुलाने को कुछ नहीं ?

जनवरी १६४१

न वहाँ भी

हाय न रोओ ! ले ले मेरा नाम न रोओ,
मर कर तो मुझ को पल भर तुम अब सुख से रहने दो !

मृत्यु-नगर में सोने लगता जब मै भूल जगत को,
रो उठते तुम, मिलता सुख है, हा! न वहाँ भी मुझ को!

स्वयं कूद पड़ा

सुख से बीता जीवन, दुख जो आया वह अपनी करणी से,
मुझ को अमूल्य उपहार मिले निशि-दिन इस सुन्दर धरणी से,
उस ने दी पक्की देह नाव, विश्वास भक्ति की पतवारें,
उस का क्या दोष कूद जल मे यदि पडा स्वय मैं तरणी से!

क्षमा चाहता

मै क्षमा चहता हूँ ईश्वर, मै क्षमा चाहता हूँ आज क्षमा,
मै ने जो कुछ भी पाप किए, मुझ को दो उन के लिए क्षमा,
इस पुण्य पावनी पृथ्वी पर, अपने अक्षम्य कुकर्मों से,
जो स्थल मैंने भ्रष्ट किए, मुझ को दो उन के लिए क्षमा!
मैं क्षमा चाहता हूँ स्वामी, मै क्षमा चाहता आज क्षमा!

प्रलय वात

रुग्ण गात, झरे पात, बही प्रलय प्रबल वात,
पृथ्वी में गया फैल तीक्ष्ण शिशिर और नाश!
तन में जिस के न प्राण
बाँह वह बार-बार उठा माँग रहा त्राण! पर जो
सुदृढ़ शरीर, उस को पतझड़ न कहीं,
वह नित दुख-हीन धीर सुनता चुपचाप दूर,
मधु की वह चरण-चाप, हँसता फिर आप आप,
यद्यपि सब झरे पात, बही प्रलय प्रबल वात!

पतझड़ में सावन

घिर आया पतझड मे सावन, बिजली चमकाता काला घन !
आई गाने वाली रात, वह झरने वाली बरसात,
आया फिर मारुत के साथ, मेघो का मादक गर्जन !
छिपा आह ! जलते नभ दीप, आई वर्षा हृदय समीप,
पावे मावन का जीवन, फिर आया पतझड मे सावन !
किन्तु पवन लगते ही हाय.झरता जिस का उर असहाय,
कैसे वह तरु मरण मलीन, समझे फिर आया सावन ?
बिधुर हृदय मे घिरे स्मरण घन, घिर आया पतझड मे सावन !

कितने पत्र नवीन

कितने पत्र नवीन आ गये रे उन से मिलते !
चले गये वे पत्र पुरातन तरुवर के जीवन से,
कितने पत्र नवीन आ गये रे उन से मिलते !
वही धूप धरती पर फैली, वही घटा नभ में छाई.
किन्तु इस हरी तरु-छाया में वह न पडी दिखलाई !
तुम वसन्त,बालिका-लताएँ भी भरकर फूलो सेचले गये,
पर वह सुकुमारी कुसुम न चुनने आई !
चली गई मेरी मधु-रितु निज पत्र-कुसुम ले कर के,
कितने पत्र नवीन आगये रे उन से मिलते !

रसमय सावन

गारे सतप्त हृदय शीतल आ गया लौट रसमय सावन!
गीतो से झूल रहा वन-तल, नृत्यो से नाच रहा उपवन,

मंगल गीतों को गाती यह बहती है अविरल जल धारा,
अप्सरियों ने भीगी अलकें, धरणी ने हरिताम्बर धारा,
मेरे प्राणों से होता था आशा का अभिनव मृदु गुंजन,
ईश्वर ने सहसा नष्ट किया, सब कुछ निज वज्रों के द्वारा!

पानी के गीत

पानी को देख कर, आते क्यों उमड़ गीत, प्राणों से अधर पर?
पानी को देख कर जाते क्यों मधुर गान आँखों के बीच भर?
युवती जो काँख में सूनी गागर लिए,
आती है दूर निज उर को केन्द्रित किए,
पानी के पास आ, गगरी जल में डूबा, जल का कल शब्द सुन,
तन-मन की सुध भुला, उठती क्यों गुनगुना?
कृषक कड़ी धूप में जो कि हल रहा चला,
होता मध्यान्ह औ, उठता वह तिलमिला,
बैलों को खोल कर, लथपथ हो स्वेद से,
छाया में लेट वह जाता श्रम खेद से,
इसी समय व्योम में मृदु रव करते हुए,
घिरते घन, विश्व की ज्वाला हरते हुए,
होती धुँधली दिशा, होता धूमिल दिगन्त, बहती गीली हवा,
छाया में कृषक को देती नव जन्म-सा;
आँखों में वाष्प ला, तन-मन की सुध भुला उठता क्यों गुन-गुना?
उठता क्यों गीत गा?

तुच्छ न समझो

तुच्छ न समझो हिमगिरि इन नश्वर मेघों को,
जब तक तुम हो बने रहेंगे तब तक ये भी,
सह सकते यदि तुम असीम झंझा-वेगों को
तो पृथ्वी पर बरसाते पवि-पावक ये भी.
तुच्छ न समझो इन को, ये क्या हैं कर सकते
महा-प्रलय के दिन तुम यह प्रत्यक्ष करोगे,
बरसेंगे जब ये नभ से सब ओर चमकते,
कौन रहेगा तब! तुम भी तो डूब मरोगे!

बच के चलो

बच-बच के चलो दुनिया मे, मन! सावधान हो चलो,
अपनी समृद्धि में न किसी दीन को छलो.
अंगार बन, न दग्ध करो, किसी शोक तप्त को,
औरों को दो प्रकाश हृदय दीप की तरह जलो!

तुम को है याद

तुम को है याद हृदय, कितना हम रोये थे,
मुट्ठी भर सुख के कण जब हम ने खोये थे.
अब हम यद्यपि सदैव इतने सुख खोते हैं,
फिर भी करते न सोच, सुख पूर्वक सोते हैं,

ईश्वर से

मेरा उतावलापन ईश्वर, दो तुम गहरे धैर्य में बदल.
मेरी चंचलता को करदो तुम हिमगिरि-सा सुस्थिर अविचल.

मेरे उर के उद्देश्य करो, रवि-किरणो-से पवित्र, उज्ज्वल,
मेरे दुर्बल प्राणो को, दो तुम उमड़ी नदियो का-सा बल !

उतावलापन

बड़ी दूर से एक अमूल्य पेड मै लाया,
आँगन मे, आँखों मे, मैने उसे लगाया,
उस के चारो ओर चुना पत्थर का घेरा,
लट्ठी धर कर जानवरो से उसे बचाया,
सीचा उसे स्वयं अपने हाथों से, जल से,
जब-जब भी रवि की किरणो ने उसे तपाया,
नीद-भूख अपनी सब छोड़ी उस के पीछे,
उस को मैने प्राणो का भी प्राण बनाया,
बीते कई वर्ष पर वह पौदा वैसा ही रहा,
भरा न बडा हो रग और खुशबू से,
आखिर एक रोज, मुझ को गुस्सा हो आया,
और काट डाला मैने उस को चाकू से,

हे प्रभो

हे प्रभो मेरे हृदय से यह व्यथा दारुण हरो,
हे प्रभो मेरे मृतक तन को पुन पूरा करो !
उठाओ मुझ को पुन. ससार के रण-क्षेत्र मे,
इस निराशा भरे उर को शक्ति साहस से भरो !

मौत खड़ी

हँस मत, भाग्य की नजर कही न लग जाए,

हँस मत, कहीं आ न वह तुझे फिर सताए,
गड्ढे के ऊपर तू खड़ा हुआ देख ले,
नीचे है खडी मौत मूना मुँह बाए!

कुछ कमी

हो गया हूँ ठीक पर यह लग रहा है,
कँही जैसे कुछ कमी रह ही गई है ?

पुनः आशा

शान्ति नयनों मे मनोहर, नीद बन कर छा गई,
गये सुख ले कर हृदय मे पुनः आशा आ गई !

सीता

छोड़ राम को भू पर सीता, आप धरा मे लीन हुई,
अपने दुख के असह भार से, वह पृथ्वी मे डूब गई,

कृतज्ञता

सौ शाप दिये जब ईश्वर ने तब कही एक बरदान दिया,
सौ बार निराश बना मुझ को आखिर आशा का भान दिया,
मै हूँ कृतज्ञ उस का जिस ने मेरे पथ मे कॉटे बोये,
पर मेरी आहो को जिस ने गंधर्वो का-सा गान किया!

तन्मयता

है न सुरीला स्वर मेरा, पर मै तन्मय हो गाता.
सुन्दर और असुंदर सब में यौवन मधु-भर जाता,
सुख-दुख मुझे विकल कर देते, पर मेरे गाने मे,
हे मर्मज्ञ! न तुम सुख पाओ, पर मै तो हूँ पाता!

गाता हूँ

गाता हूँ मैं छोटे गीत, छोटे-छोटे सुंदर गीत !
छोटे गीत रसीले गीत, छोटे-छोटे सुंदर गीत,
जिन से पाठक हों न विभीत, भर लाएँ आँखों में प्रीत,
गाता हूँ मैं छोटे गीत, छोटे छोटे सुन्दर गीत !

पिक हे

राधा-गोविन्द नाम पिक हे उचारो !
बोलो हे श्याम-श्याम प्रेम-रूप धारो !
राधा-गोविन्द नाम, पिक हे उचारो !
बन-बनमें रुदन करो, निशि-दिन बन विकल फिरो;
वशी के बसी श्याम, नयनों में धारो,
राधा गोविन्द नाम, हर हे उचारो,
बोलो हे श्याम-श्याम प्रेम-रूप धारो,
राधा-गोविन्द नाम पिक हे उचारो !

नाम-वियोगी

कल नदी के शून्य-तट पर था तुम्हारा प्रिय वियोगी !
शरद के उस शून्य घन की, क्या न जाने दशा होगी !
'नाम वियोगी ना जिए, जिए तो बाउर होय,
कल नदी के शून्य तट पर था तुम्हारा प्रिय वियोगी !

तुम नहीं जलधर

तुम नहीं जलधर अकेले !
शैल के तल से निकल कर श्री-वियुक्त वसन्त-से,

शून्य नभ में घूमते तुम और तिल-तिल कर विखरते,
तुम नहीं जलधर अकेले!
इस गगन में मुक्त स्वर से रुदन कर मिटते हुए!
खोजते प्रति शैल में प्रिय को तड़ित-दीपक लिए!
तुम नहीं जलधर अकेले!

मुँदा कमल

हाय! प्रेम का मुँदा कमल मैं कैसे खोलूँ?
मैं अपनी जल-वासिनी-छाया से क्या बोलूँ?
वह लहरों से डरती, मुझ से मारुत डरता,
वह हँसों में हँसती, मुझ पर वर्फ फिसलता!

धीर धरो

धीर धरो वह तुम्हें मिलेगी, तरु वर मधु-रितु तो आने दो!
सौरभ के घर खुल जाने दो, दूर देश में फिर वह कोकिल,
भूली रह न सकेगी, तुम्हें मिलेगी! धीर धरो!

हे शिव शंकर

तुम जागोगे भी? हे शिव-शकर! मेरे उर में हे डमरू-धर!
रुद्र रूप नटराज भयंकर! तुम जागोगे भी? हे शिव शंकर!
प्रलय चरण हे! हे दिशा-वसन! कैलाश नाथ हे! हे मदन-दहन!
नयन-तीसरा खोलोगे भी? हे शिवशंकर! तुम जागोगे भी!

स्वर बनो

मेरे हृदय के स्वर बनो! आ, हृदय के देव-
गृह में तुम पुनीत अमर बनो!

बीज बन संगीत के मेरे हृदय से उठ जगत पूरित करो,
नीड अपना प्रिय बना मेरे हृदय को, तुम मधुर कूजन करो !
तुम विहग सुन्दर बनो, स्वर बनो, मेरे हृदय के स्वर बनो !

दूब हूँ

मै सुकोमल दूब हूँ, मुझ पर चरण धर,
सुन्दरी जाओ मधुर स्वर कर!
ललित गति से
मै मनोहर पुष्प हूँ, मुझ को चयन कर,
सुन्दरी! उर में छिपाओ, चूम नव रति से !

जाओ मत सुन्दरी

छोड मुझे अभी कही ! जाओ मत सुन्दरी!
आया जब था प्रभात, वृक्षो की कुज मे,
तुम को तब देख खड़ी, किरणो की कुंज मे,
लोचन ये चकित रहे, रहे जहाँ थे वहीं!
जाओ मत सुंदरी, छोड़ मुझे अभी कहीं !
आया मध्यान्ह नीद, पलकों पर झुक गई!
सहसा मृदु वंशी से मुखरित बीथी हुई !
देखा तुम दूर विजन पथ पर आलस भरी,
चलती हो छोड शून्य प्राणों की यह पुरी,
लोचन भर चले, सोच, लौटोगी तुम नही,
लौटोगी तुम नही !! लौटोगी तुम नही !!!

संध्या-श्री

"तुम्हें नीर दे सकी हाय, पथिक मै नही,
इसी बात से कहीं. कुपित न हो जाना !"
और मॅंजीरें बजा, निर्झरी को लजा
चली गई सुंदरी, नीर से भरी-भरी !
तृषा से विकल बना, एक विटप के तले,
मै पडा था हुआ, तभी चरण थे चले,
आह ! छलकते हुए, किसी तरल लहर के !
नीर, मधुर नीर भर, गिरि की उस राह पर,
जाती थी सुन्दरी, नीर से भरी-भरी !
मुझ से कुछ दूर जा, नीर-पात्र को नवा,
और राह मैं पड़ी, शुष्क तप्त धूल को,
तृषित समझ सदय हो, उसे भिगा नीर से,
शून्य नीर-पात्र ले, जाने क्यो मुख फिरा,
मुझे देख मुस्करा, दौड़ कर चली गई,
निर्जन में सुन्दरी, नीर से भरी-भरी !

आशा

"तुम्हें जगह दे सकी, नही रात के लिए,
पथिक तुम इसी लिए, कुपित न हो जाना !"
द्वार बंद कर गई, यह कह वह सुन्दरी.
हॅंस हॅंसी विमोहिनी, पथिक प्राण-हारिणी!
बजा ललित करधनी, चली गई सुन्दरी

हँस हँसी विमोहिनी, पथिक मनोन्मादिनी,
छोड़ द्वार-देश पर, एक निराधार को,
और अंधकार को, चली गई सुन्दरी!
भीम अंधकार मे, भय के संसार में,
मै विदेशी रहा, और देखता रहा.
अश्रुहीन दृष्टि से पथिक जिन्हे देख कर,
रुद्ध द्वार मुक्त कर, हँसती थी सुन्दरी,
हँसी लाज से भरी, हँसती थी सुन्दरी!!
बहुत दूर भ्रमित हो, कई बार राह खो—
अंत मे अकेली, कुटी यह मुझे मिली,
मिली जगह पर नही, लौट कहाँ जाऊँ!
उसी द्वार पर पडा, मै विदेशी रहा,
रात भर कुटीर में रहे बोलते सुर,
नाचते नूपुर, इस हृदय अधीर मे,
रात भर कुटीर में, रहे गूँजते सुर!
बहुत देर है हुई, आश अब नहीं रही.
खुलेंगे न द्वार ये, चलूँ लौट यहाँ से,
सोच यही बात मै, चला गया वहाँ से,
घने विपिन पार कर, शैल-पथों मे उतर,
दूर घाटियों में, मै विलीन हो गया;
इसी समय दूर से, घने अन्धकार में,
वह पुकारती मुझे, "पथिक! तुम कहाँ गये?"

हे गिरि

हे गिरि! चाहे कितनी ही सुन्दर घाटी हो,
कितने ही सुन्दर बन हों पुलिनों पर चाहे,
कैसी ही छवि हो गुंजन करती फूलों में,
पर न रुकी रहती सरिता अपने कूलों मे।

दो गये थे

दो गये थे साथ ही हम, लौटता मै ही अकेला।
वही सरिता तीर है, वह ही विलोल प्रभात वेला।
लौटती है म्लान कुसुमों के मुखों पर चेतना।
गा रही कोकिल निकुंजों मे विजन की वेदना।
देखता हूँ आज जल में निज मलिन मुख मैं अकेला।
दो गये थे साथ ही हम, लौटता मैं ही अकेला।

नैणा मोर बाण पड़ी

(यदि) मैं भी हँस हँस पछता पाती,सावन के मेघों से डरती,
होरी में घुल-घुल खिल पाती, कितनीं होती इस जीवन की
विरह-भरी रात। नँद-नदन, दूर न रहती वंशी की वे बातें।
नैणा मोर बाण पडी।

मीरा नाचे रे

सावन के मेघ घिरे उर पर, इन्द्र-धनुष केशों मे कस कर
धुँधले नयनो वाले भूधर
बोले झरनों को आज नचा "मीरा नाचे रे।"

झरने

झरने! मैं प्यासा पथिक नहीं, हूँ खड़ा तुम्हारे पास अगर,
मैं उसे देखता जो आती अपना सूना घट लिए इधर,
बन-देवी-सी निर्जन बन में, मृदु-मृदु गुंजन कर कानन में!
तुम गाते जाओ वही गीत, सुन जिन को उसकी कलशी की,
आँखें भर आती हैं सप्रीत, वाणी हो जाती व्यथा-भरी!
मैं उन कानों में भर दूंगा चुप वही मोहिनी स्वर-लहरी!

फेनिल हो हँसती

वह हिम-गिरि के देवदार-बन में है विचरण करती,
नीरद कुंज बना कर वह, शशि-वदनी रहती,
नहीं किसी ने पिये अझर झरते वे निर्झर,
जिन पर रहते हिलते उस के हृदय मधुर अधर,
शशि-आलिंगित सांध्य-जलद से गिरि पर सुंदर!
वह तट पर उल्लास उछाल छलक कर बहती,
पत्थर में वह फूल खिला फेनिल हो हँसती!

झर गये वे

झर गये, वे झर गये! वक्ष भर देते धरा का जो सुरभि से,
खिल न पाये वे जरा भी, और भू पर झर गये!
जिन्हें पा कर वसुमती होती सुखी, याद से अपनी उसे वे
दुखी इतना कर गये, झर गये वे झर गये!

कुम्हला जाती हँसी

कुम्हला जाती हँसी हृदय से अधरों तक आते ही,

रो उठती हैं आँखें अधरों पर, स्मिति के छाते ही,
हो जाता वरदान और ही, कुछ मिलने-मिलने तक,
पात्र सुधा का विष बन जाता, हाथों के पाते ही !

अकथ श्रान्ति

मृदुल चरण, अकथ श्रान्ति, मरु-थल की नीर-भ्रांति!
ठहर-ठहर है विनाश, प्रखर किरण जाल-त्रास,
होती क्यों मिलन भ्रांति, मृदुल चरण अकथ श्रांति !
अलस नयन मूँद देख, पास आई मिलन रेख,
भ्रमित नहीं कभी शान्ति, मृदुल चरण अकथ श्रान्ति।
तरुण ! बैठ करुण द्वार, हृदय-देव-पद-पखार,
यहीं बना कुटी एक, पूजन कर बार-बार,
मृदुल चरण अकथ श्रान्ति, मरु थल की नीर-भ्रांति !

अन्तिम दिन

अन्तिम दिन ! मेरे जीवन के अंतिम दिन!
पीले पातों पर पड़े हुए जीवन के गीले अंतिम दिन !
निश्चल करुणा नयनों में भर, देखते तुम्हें शैल-विपिन,
मेरे जीवन के अन्तिम दिन!
लाया था जग में सूर्य तुम्हें, घेरती तुम्हें है निशा मलिन,
हो जाओगे तुम तिमिर-मग्न, क्षण भर ही में हे प्यारे दिन!
जीवन के सुंदर अन्तिम दिन !

दिन-धन-शोभा

अन्तिम दिन-धन-शोभा, हिम-शिखरों पर बिखरी!

देख रहे थे नयन मृत्यु की शान्ति से भरी,
मौन मर रही थी शोभा निर्मल तुषार पर,
मृदुल चाँदनी-सी शशि की तन-लता से झरी,
देख रहे थे बादल झुके हुए शैलों पर,
स्नेही जन से उसी व्यथा से प्राणों को भर,
बुझता था धीरे-धीरे निराश हो अम्बर!
कुछ न कर सके शिखर, मर गई ज्योति हृदय पर,
रहे देखते पथराई आँखों से अम्बर,
जैसे मैं खो प्रिये तुम्हें अपनी बाँहों से,
माँग रहा हूँ मरण, हृदय में अंधकार भर!

रोदन-स्वर

चली गई किरणें दिन भर की, गिरि-सरिता से उठ कर,
अब उदास होती हैं आँखें, इस पृथ्वी को लख कर!
अंधकार की धूमिल लहरों में यह प्रकाश डूब रहा,
दिन भर थक कर विहग अभागी, अब उजड़ा घर खोज रहा,
यह आँखों से दूर हर रहा, तम-राक्षस वन-श्री को,
चली जा रही धीरे-धीरे यह यम की नगरी को,
सरिताएँ अदृश हो रहीं, तमस-गर्भ से अब उठता
उन का रोदन-स्वर केवल अंधकार में फिरता!

ओ मौन

वाणी जब हुई शान्त, मन का कलरव भी हुआ शान्त,
जैसे झरने को प्राप्त हुआ हो हृदय, उदधि का-सा प्रशान्त

वाणी जब हुई शान्त, छिप गई कलह की कुटिल रात.
उड गये द्वैष के खल उलूक,सब ओर हुआ उज्ज्वल प्रभात!
वाणी जब हुई मौन, तब हुई सुधा की पुलक वृष्टि
सब ओर, मुग्ध शशि-किरणों से ढक जाती जैसे शरद सृष्टि!
वाणी जब हुई मौन, हो गये तृप्त तब हृदय-प्राण.
ओ मौन! कंठ में तुम आओ, मुझ को न चाहिए अमर गान!

मौन

तुम हो वह सागर, जिस के अभेद्य अन्तर में,
बजते रहते हैं सारे संगीत सभी स्वर!
तुम हो वह अंधकार बहु कथनों की शोभा,
एक रूप हो सोई रहती जिस के भीतर!
तुम समाप्ति वह, बाह्य तर्क से थक कर,
वाणी लेती बिश्राम-शाति, जिस मे आ कर!

मौन रह

मौन रह, मौन रह, अपना है कौन यहाँ, अपना है कौन यहाँ?
उर पर जो तुम्हें धरे, ऐसा है कौन यहाँ, ऐसा है कौन?
यह तो परदेश. चिन्ताएँ सभी ओर, और क्लेश-क्लेश!
दूर वह प्रशान्ति, दूर जननी का देश, यहाँ क्लेश-क्लेश!
मौन रह, मौन रह, रो मत, मत हँसी करा,
अपना है कौन यहाँ, अपना है कौन?

जुलाय १९४७ ई०

अब न रुकेगा

अब न रुकेगा किसी तरह भी मेरा जाता जीवन !
अब लेगी विश्राम श्रान्त अति मेरे उर की धड़कन;
रोना मत मेरी जननी, यदि जीवित रह न सका मैं,
बार-बार आऊँगा मैं बन तेरे ही अंचल का धन !
यह प्रवास है, यहाँ अनेकों में न एक भी अपना,
सोचोगी तुम कितना दुख-प्रद है प्रवास में मरना !
किन्तु मरण के समय शत्रु भी रो उठता है दुख से,
अनजानों को तो कहता है, सकल विश्व ही अपना !
यह कोई दुखिया रोती है, मुझे गोद में भर के,
इस अनजान जननि के आँसू पर न मुझे अकुलाते !
मेरा मन अब सोच रहा है, देख मृत्यु की छाया,
तुम तक कैसे अपने उर के समाचार भिजवा दे !
जिस काल कुसुम थाली में धर दीपक ज्योति जला कर,
मेरी कुशल मनाने जाती होगी, मंदिर-पथ पर,
यदि उस काल कुसुम गिर जावें, दीपक यदि बुझ जावे,
जननि! समझ लेना मेरा भी अस्त हुआ जीवन बुझ कर,
मुझे भूल, मंदिर में जाना, तुम को शान्ति मिलेगी,
फिर न प्रतीक्षा मेरी करना, तुम्हें प्रतीक्षा क्या देगी !

जीवन-मृत

मुझे जीवन में मरण दो !
जो न मिथ्या स्वप्न देखे, मुझे ऐसा जागरण दो !

जिसे शोक करे न चंचल, जो रहे निस्संग, निश्चल,
नरक मे भी शान्त-उज्ज्वल, मुझे ऐसा कठिन मन दो !
जो हृदय का ताप हरते, निराशो में आश भरते,
कठ से मधु-सदृश झरते, मुझे प्रिय ऐसे वचन दो !

रख हरी भरी

रख हरी भरी कुछ दिन गोदी यदि छीन सभी कुछ ईश्वर ले,
आँसू से बेबस आँखें भर, उर थाम खड़े जग मे रहिए !
श्रम-जल की बाढ़ों से सींची जीवन की पकती खेती पर,
यदि टूट पड़े निर्दय अम्बर अपना दुख किस से फिर कहिए?
बन कर जीवन की कल्प-लता नस-नस मे हो जो फैल गई,
यदि वह विष की कटु बेल हुई, कैसे फिर दूर उसे करिए?

तब कैसे हो

तब कैसे हो जननी पूजन !
कष्टों की कंटक-शय्या पर तड़प रहा हो जब व्याकुल तन !
मृत्यु-उदधि के कोलाहल से पूरित हों जब भयभीत नयन !
कैसे हृदय सुने इन चरणो की कोमल नूपुर-गुंजन?
भस्म हो गये हों दावानल में जब मेरे प्रिय वन-उपवन ?
क्षमा करो माँ, तब न तुम्हारा हो यदि नव कुसुमों से अर्चन !

है संतोष

मुझे इसी मे है सन्तोष !
हिमगिरि मे छोटा-सा घर हो, धूप सेकने को दिन भर को,
एक सुखद आँगन हो, जिस मे बहती रहे हवा निर्दोष !

आँखो के आगे हँसते हों, हिम के स्वच्छ शिखर, झरते हो-
जिन से निकल निकल कर झरने, करते उपलों पर कल-घोष!
चाह न हो कुछ भी पाने की, डर न किसी के खो जाने की,
कटते रहें शान्ति से मेरे नीरव प्रात, सुरम्य प्रदोष!
मुझे न जग मे कोई जाने, मुझे न परिचित भी पहिचाने,
रहूँ दूर मै जहाँ हृदय को छू न सकें पृथ्वी के दोष!
वहाँ मधुर फूलो से घिर कर, विहगो की ध्वनियाँ सुन-सुन
रहूँ खोजता गुन-गुन कर मै, अमर शान्ति का शुचि मधु-कोष!

स्वर्ग-सरि

स्वर्ग-सरि मंदाकिनो! हे स्वर्ग-सरि मदाकिनी!
मुझ को डुबा निज काव्य में, हे स्वर्ग-सरि मदाकिनी!
गौरी-पिता-पद-निसृते! हे प्रेम-वारि-तरंगिते!
हे गीत-मुखरे! शुचि-स्मिते! कल्याणि भीम मनोहरे!
हे गुहा-वासिनि योगिनी! हे कलुष-तट-तरु नाशिनी!
मुझ को डुबा निज काव्य में, हे स्वर्ग-सरि मदाकिनी!
मै बैठ कर नवनीत कोमल फेन पर शशि बिम्ब-सा,
अंकित करूँगा जननि तेरे अंक पर सुर-धनु सदा,
लहरें जहाँ ले जायँगी, मै जाऊँगा जल बिन्दु-सा,
पीछे न देखूँगा कभी, आगे बढूँगा मै सदा,
हे तट-मृदंगोत्ताल ध्वनिते! लहर-वीणा-वादिनी!
मुझ को डुबा निज काव्य में, हे स्वर्ग-सरि मंदाकिनी!

जीवन-सरिता

जीवन-सरिता यह उत्तरंग! इस के स्तर-स्तर में काँप रहे
कितने कलरव, कितनी उमंग! हिमगिरि का निर्जन मौन चीर,
चट्टानों पर लहरा अधीर, गिर विद्युत-सी, गंभीर नाद-
कर धरती पर अपने निनाद से गुँजा गुफाएँ, जगा गहन
छाया में सोये नीरव बन, रवि की किरणों में चमक चली
किस ओर छूट कर यह पगली! इस की छाया में कहीं भरे,
तरुओं के शत-शत विपिन हरे, लहरों मे सोए कहीं सरल–
पुष्पों के हँसमुख मेघ मृदुल, हैं कहीं काँपते पके धान,
हैं कहीं कूकते मधुर गान—विहगों के, कहीं झुके तट पर
सोने के फल, मधु से भर कर; इस की यात्रा में डूब गये
कितने प्रभात के मेघ नये! इस के जल में झर गये सरल
संध्याओं के कितने उत्पल! इस की पलकों में चमक जगे
कितने शशि-तारे काँप लगे! इस के अंगों मे पवनों के
कितने मृदु चुम्बन प्रेम पगे! उर पर सुन्दर-सुन्दर छाँह
भर, फैलाए उर्मिल बाँहें तट के अधरों को चूम-चूम
भँवरों के पीछे घूम-घूम यह चली जा रही चपल चरण
हँस–हँस करती अस्थिर नर्तन! यह हास भरी, यह नृत्य भरी
यह प्राण भरी, यह मृत्यु भरी! भीषण मेघों को कर विदीर्ण
नभ में होती क्षण-क्षण विकीर्ण बिजली; बहती आँधी सबेग!
वज्रों में झरते, आज मेघ! वह देखो, फैला घोर जटा,
ले कर विनाश की विपुल घटा, कितने टूटे-फूटे पहाड़!

आती है प्रलय रूप धर कर, देखो, कितने भूकंप प्रबल !
बाढ़ों के कितने भीषण दल ! उस के चरणों में बँधे हुए,
भीषण किल-किल कर दौड़ रहे ! खुल गया गगन, हँसती किरणें,
बह रही स्निग्ध शीतल पवनें, हिलते तरु-पल्लव, हँस-हँस कर,
वनों से झरते-झर-झर-झर, दूर्वा पर मोती; तरु-तरु पर—
गाते पुलकित खग झुक झुक कर, केशों में पीले पत्र झरे,
हिम-जल से नूपुर हस भरे, विपनों के अंतर से हँस कर,
बालिका-सदृश गाती सुन्दर, आती वह किरणों से मिलने
नीले नभ के नीचे हँसने ! शिखरों से जल लाती,
हँस-हँस कर तट पर उठ आती, भरती कितने घट गा गँभीर,
अंजलियों से द्रुत फेंक नीर, नहलाती कितने मृदुल वदन
फूलों में फैला मृदु कंपन, हंसी-सी उज्ज्वल पर पसार,
उड़ जाती कूजन कर अपार, अस्पष्ट क्षितिज के अंतर में !
हिल्लोलवती, उल्लासवती, उन्माद-भरी, निर्मल युवती,
हाथों में ले हसती बिजली, दुर्गम जीवन-पथ पर निकली,
करती निज सुख की लहरों से घन घोर घाटियों को उजली,
जीवन की चाह अपार लिए, भीषणता से शृंगार किए,
जीवन की दूती जीवन को सौंपती मृत्यु के हाथों जो,
उत्पन्न स्वर्ग के, हिम से हो, शैलों में काट स्व बचपन को,
यौवन भर पृथ्वी में बह कर, अन्त में डूब जाती सत्वर
तल-हीन मरण के सागर में, तम के भीषण अन्तर-तम में
यह मधुर गीत गाती—गाती, प्रति पल निज उद्गम से आती,

यह मधुर गीत गाती-गाती, सागर से मिलने को जाती,
पृथ्वी के ऊपर प्रवहमान, यह आशा की रेखा अभंग,
यह जीवन की उज्ज्वल तरंग !

स्निग्ध-शान्ति

घर छोड़े वर्षों बीत गये, मैं हिम-शिखरों पर घूम रहा,
देखता दृश्य जब नये-नये ! वर्षों से बर्फानी पहाड़,
घन घोर शोर करती नदियाँ, सुनसान पर्वतों पर फैली
पीड़ा से पीली चाँदनियाँ, ये ही अब मेरे साथ रहे,
घर छोड़े वर्षों बीत गये ! मैं किस प्रदेश में आ पहुँचा !
हैं चारों ओर खड़े पर्वत, जिन का हिम झरनों में झरता,
जिन के प्राणों को झरनों का संगीत मधुर मुखरित रखता !
जिन के नीचे सुन्दर घाटी, धानों से पीली पड़ी हुई,
जिस से सुगंधि की मृदु लहरें, मारुत में उड़ती निकल रहीं !
गिरि-बन से छूटी एक नदी, घाटी में गाती घूम रही,
आँखों में रवि के बिम्ब नचा, अधरों पर धर-धर चूम रही;
निर्जन तट पर फूलों से पड़-पीली लतिकाएँ झुकी हुईं,
भौंरो की गूँजों से हिलती, छवि-शान्त पवन में रुकी हुई
मैं लता-भवन में आ ठहरा, कोकिल मेरे ऊपर कूकी,
फूलों से झर-झर सुरभि-झरी, केसर से दूर्बा ढकी हरी !
कितना एकान्त यहाँ पर है ! मैं इसी कुंज में दूर्बा पर
लेटूँगा आज शान्त हो कर, जीवन भर चल-चल, अब थक कर!
ये पद जो गिरि पर सदा चढ़े, चोटी से घाटी में उतरे,

सुनसान पर्वतों से हो कर, घन घोर जगलों में विचरे,
ये पद विश्राम माँगते अब, इस हरी-भरी धरती में आ,
ये पद न थके जो अभी कभी, ये अब न सकेंगे पग भर जा!
मेरे अंगों में फैल रही, निद्रा की स्वप्नमई ममता,
आँखों में भरती शनैःशनैः, विपिनों की धूमिल नीरवता,
झरनों के स्वर, प्राणों को हर, ले जाते धीरे आज कहाँ!
निर्जन शिखरों पर फूलों में नीरवता फैली हुई जहाँ!
ले जाते पुष्प धरातल में, बीजों के बीच मुझे; जिन पर
रक्खे न अभी आशाओं ने, जीवन के रग-विरंगे कर!
अपने उद्गम को लौट रही, अब बहना छोड नदी मेरी,
छोटे से अरण में डूब रही, अब जीवन की पृथ्वी मेरी!
आँखों में सुख से पिघल-पिघल, ओंठों में स्मिति भरता-भरता,
मेरा जीवन धीरे-धीरे इस सुन्दर घाटी मे मरता!
अब मेरी आँखों में हँसते शशि की प्रिय मूर्ति न जागेगी!
बन-बन से मेरे लिए हवा, मधु-रितु की गूँज न लावेगी!
है आज समाप्ति दुःख-सुख की, आखिरी सिसकियाँ ये मेरी!
है यह पृथ्वी का अन्तिम दिन, आखिरी हिचकियाँ ये मेरी!
मेरे शव को घेर खड़े होंगे जब कुछ परदेशी विस्मित हो,
मै कौन यहाँ? क्यों पड़ा हुआ? समझा न सकूँगा मै उन को
फूलों के बीच जला मुझ को, जब लौट चले वे जावेंगे,
उर की कृतज्ञता से मेरे लोचन न पिघल तब पाएँगे,
जो शान्ति थकित को मिलती है, वह स्निग्ध शान्ति हो मेरी!

पवनों को सौरभ दे-दे कर, भ्रमरों की गूँजे पी-पीकर,
हँसने से थक गिर दूर्वा पर, जो शान्ति कुसुम को मिलती है
वह स्निग्ध शान्ति हो मेरी !

स्निग्ध शान्ति के इस वरेण्य दूत की 'जीवन-गाथा' अत्यत संक्षिप्त है—

जीवन ने मुझ को प्रभात की भाँति खिलाया,
आशाओं ने मुझे कुसुम की भाँति हँसाया,
संध्या ने कर दिया थकित मुझ को शोभा से,
स्निग्ध मरण ने मुझे निशा की भाँति सुलाया !

मृत्यु का वरण कर उस ने अपने काव्य मे जीवन भरा है। निराला जी का कहना है—

मरण को जिस ने बरा है, उसी ने जीवन भरा है,
परा भी उस की, उसी के अंक सत्य यशोधरा है।

निराला जी ने जो कुछ कहा है वह चन्द्र कुँवर से घने रूप से सबधित है; किन्तु चन्द्र कुँवर भी 'अमरता' को रूप-वाणी देने के पश्चात् पृथ्वी से विदा हुए—

नाच रहे थे जहाँ युवक गण और नारियाँ
पूछा मै ने रहती है क्या यहाँ अमरता ?
बोली आँखों में आँसू भर कुछ कुमारियाँ
'झर जायेगा कल ही यह ही सुख, यह सुन्दरता !
गीत लिख रहे थे कुछ कवि जग के सुख-दुख के?
मैं ने पूछा होंगे अमर तुम्हारे स्वर क्या?

करुण हुए सहसा ही सब स्वर उन के मुख के
बोले वे—'प्रिय मित्र, यहाँ सब कुछ नश्वरता !
थी बसन्त की मादक दोपहरी बन-बन में,
फैली थी आभा, कोमल-कोमल कलियों की,
जाने कैसे चलते-चलते मै नंदन-बन में
पहुँच गया, यों ही गुंजन सुन-सुन अलियों की,
वहाँ लेट, उगते फूलों की मृदु शय्या पर
भरती थी आहें भर-भर कर एक सुन्दरी.
पूछा मै ने—'कौन पड़ी हो तुम भू पर ?'
बोली वह—मै हाय ! अमरता मरण से भरी !

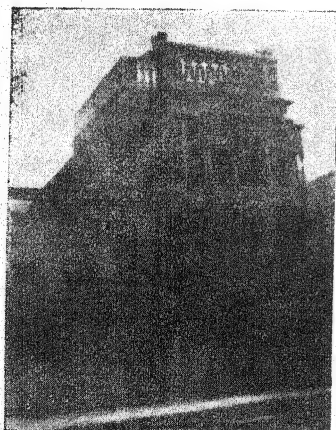
हिमवंत की पृथ्वी ने अनादि काल से एक से एक दिव्य गधर्व-किन्नर कवियो को उत्पन्न किया है, जन-कोलाहल के बीच अपने ही स्वार्थो मे डूबे लोगों को इतनी फुर्सत कहाँ कि उन अमृत हृदों का पान करे! जिन सौभाग्य शालियों को ऐसा अवसर प्राप्त भी होता है समय आने पर, अपनी कुरुक्षेत्र भूमि मे आ कर वे भी अपना रग बदल देते है। बीसवी शताब्दी को उत्तराखंड ने चन्द्र कुँवर, अम्बरीश, त्रिपाठी, यशवंत, भारती, चक्रधर बहुगुणा, अ बर आदि अनेक कवि दिए है। किन्नरकवि के रूप में चन्द्र कुँवर आये। अ बरीश के स्वर, गधर्व स्वर है। 'मानस-हंसिनी, बेजोड वीरा' उन की भव्यतम देन है। त्रिपाठी, सौन्दर्य-गान के गायक है, यशवत के शक्ति प्रवाह के रुद्र-गीत हैं, चक्रधर कलाकार कवि है। अ बर ने मैथिली शरण का अनुसरण किया। भारती की अश्व-वल्गा कर्म का सदेश ले कर आई। माँ! ये कवि कब तक उपेक्षित रहेंगे ?



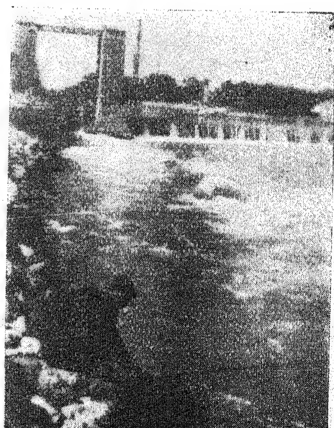
'इस हरदत्त से'



चन्द्रकुँवर बर्त्वाल



श्रीराम निवास



बाँध पर गोमती

हिम-शृंगों की ओर

डा० विनी एम० एच० एच०

हिम-शृ गों की ओर आगे बढ़ने की मेरी इच्छा पहली बार उन्नीस सौ छयालीस ईसवी में अल्मोड़े मे हुई थी। सौन्दर्य के उस हिमवन्त की तरह-तरह की कल्पनाएँ मन मे आती थीं जिसके लिए चन्द्रकुँवर जी ने लिखा है—"सुन्दरता ने महल बनाया हिम से अपना"! रम्य घाटियों की वह अनुपम शोभा, देवदारु और चीड पर रीझता हुआ वह मारुत मेरे हृदय को स्पंदित कर जाता था, वह मेरी आँखों को सौन्दर्य की भाषा सिखा रहा था; और मेरे हृदय को अपना प्रेमी बना रहा था, किसलिए? उस सौन्दर्य को एक टक देखने मे मैंने वह दिन बिता दिया; किन्तु आज लगता है कुछ भी तो नहीं देखा!

इसके बाद श्याम खेत की वह शोभा, वह अनोखा रूप आज भी चित्र-सा मेरे हृदय-पट पर अंकित है। श्यामवर्ण वाली वह घाटी, मेघों का अवगुंठन डाले, कुछ शरमाती, कुछ मुस्काती सी मानो देवपुरी की अप्सरा का रूप धरे हृदय को चचल बना देने को ही खड़ी थी। गउएँ हरी-भरी दूर्वा पर चर रही थी और घाटी के अन्तस्तल मे वंशी की ध्वनि गूँज रही थी। पीछे भीमताल के जल मे उस का प्रतिविम्ब पड़ रहा था। चीड़ों से हो कर पवन रीझता, मर्मर करता चला आ रहा था। मेरा प्यासा हृदय मानों स्वर्ग की सरिता के सम्मुख खड़ा था।

कदाचित् ऐसे ही सौन्दर्य के बीच चन्द्रकुँवर जी ने गाया होगा 'स्वर्ग सरि मदाकिनी हे स्वर्ग सरि मंदाकिनी ! मुझ को डुबा निज काव्य में हे स्वर्ग सरि मदाकिनी !'

इस के बाद चन्द्रकुँवर जी की 'माधुरी मेरे हिमगिरि की' कविता ने मेरा हृदय विकल कर दिया। भाग्य वश १६४८ ई० में उस माधुरी को देखने का मौका भी मिला।

सोमवार दस मई उन्नीस सौ अडतालीस की सुबह नजीबाबाद के रेलवे स्टेशन से मोटर से चल कर हम लोग साँझ को पौडी पहुँचे। बय्यासी मील के उस रास्ते मे क्या-क्या आया यह तो ईश्वर ही जाने किन्तु, हाँ, मुझे शाम की याद है। पौडी में मोटर स्टैण्ड मे कुछ पहले ही हम लोगों को रुकवा दिया गया था। पता चला कि डी० एफ० ओ० के बँगले को जहाँ हम ठहरने वाले थे, एक छोटा-सा रास्ता यहाँ से जाता है। हम लोग उसी पग-डडी से चल दिए। चलते-चलते मै ने मोटर को हाथ जोडे, जान बची और लाखों पाये।

हाँ तो हम लोग चढने लगे। चीडों की हवा ने स्वस्थ किया। मेरे होश ठिकाने से आने लगे। देखा हलकी हलकी बूँदें पड रही थी। मेघ केवल आकाश मे ही नहीं छाए हुए थे वे भूमि पर भी फैले हुए थे और क्षण-क्षण सा आकर तन का स्पर्श भी कर रहे थे। हिमगिरि का स्पर्श पाकर उन मे शीतल तरलता आ गई थी, जो, शरीर को अपने कोमल स्पर्शों से गीला कर हृदय में सिहरन उत्पन्न करती थी। देवदारु से निकल कर मर्मर करता हुआ पवन, अपने स्पर्शों से मेघों को बराबर किसी अन्य देश में उड़ाए लिए जा रहा था, जहाँ हम लोगों जैसे

ही थके हुए कोई प्राणी उन की राह देख रहे होंगे ।

डी० एफ० ओ० का बंगला काफी ऊँचे था । हम लोग एक खुले छोटे से मैदान मे पहुँचे । सामने ही देवदारु के बीच से झाँकता हुआ एक बँगला दीख रहा था । पता चला वहीं हम लोग रहेंगे । घर और उस का वातावरण तो निराला था ही पर सब से खुशी की बात तो यह थी कि वहाँ केवल हम ही लोग रहनेवाले थे । शेष व्यक्ति नीचे के डाक बंगले मे ठहराए गए थे । चाय पीने के बाद सब लोग विदा हुए । इतने दिनों के बाद जो अपनापन खो-सा गया था, फिर वापिस आ गया । मैं, मेरी बहिन और पिता जी, देवदारु के बन से गई हुई सड़क पर घूमने चल दिए । अँधेरा हो गया था । उसी बन का रंग गगन मे फैल रहा था । बूँदें रुक-रुक कर धीरे-धीरे कभी कभी पड़ने लगती थी । भाई-बहिनों जैसे घुले-मिले उन चीड़ों और देवदारुओं का मर्मर कानों में गूँजने लगा । इतने में ही कुछ लोग मिल गये और वे एक मित्र के यहाँ बुला ले गये । घूमने का सारा मजा तो वहीं निकल गया ।

उस रात नींद भी कुछ अच्छी आई । नींद जब टूटी तो मैंने देखा पिता जी सामने खड़े मुसकुरा रहे थे । उन्हों ने कहा चलो तुम्हे हिम-शृंगों का दृश्य दिखाऊँ । मै ने खिड़कियाँ खोल कर देखा, भोर हो चुकी थी । कुछ चिड़याएँ देवदारुओं पर चहक रही थीं । बाग मे लगी गुलाब की अनुराग भरी कलियाँ डालों पर खिल रही थी । हिम-शृंगों की टेढ़ी मेढ़ी चोटियाँ नील वर्णा सुन्दरी की हीरों सजी लड़ी-सी लग रही थीं जिन पर पड़ती हुई सूर्य की पहली पवित्र रश्मियाँ पृथ्वी के हाथों पर उठी कमल-माला का-सा दृश्य उपस्थित कर रही थी; युग-युग से खड़े तापस

हिमालय के मुख पर कितनी उज्ज्वल और भोली हँसी खिल रही थी। कुछ ऊँची-नीची चोटियाँ, बीच-बीच मे गहरी घाटियाँ और कही नीले और धुँधले शिखर कही हरे-भरे छोटे-छोटे खेत, सब मिल कर कितना सुंदर चित्र बना रहे थे! मैने अनुमान लगाया कि इन्ही सब को पार कर के, चौखभ के अगल-बगल की किसी चोटी पर स्थित बद्रीनाथ तक हम लोग भी पहुँचेगे।

पौड़ी का देवदारु का बन और वहाँ से हिम-शृंगों की शोभा भुलाए नहीं भूलती। चन्द्रकुँवर के कवि के साथ मेरा हृदय गुन गुना उठता था—

"नीला देवदार का बन है, जिस पर मोहित हुआ पवन है!"

पवन बेग से आता था और कह जाता था मुझ मे लुभाने की शक्ति है।

देवदार और चीड़ों के बीच निर्जन मे खड़ा घर स्वय ही अपनी सुन्दरता के गीत गा रहा था। बगल के टीले पर चढ़ कर देखा, पीछे एक गहरी घाटी थी, जिस मे कही-कही धान के सुनहले खेत लहलहा रहे थे। हरी-भरी दूर्वा पर, चट्टानों की छाया मे, कही-कही गउए चर रही थी। उस पर रीझ रहा मारुत देवदारुओ को हिला रहा था। वह घाटी कभी कभी शरमा कर मेघों का अवगुंठन डाल देती थी।

उस दिन हम लोग दो तीन बार नीचे उतरे। पर दोपहरी अपनी थी इसलिए वह देवदार की छाया मे बीती। न जाने कब से सूख कर पत्तियाँ पड़ी थी पर वे अब भी चिकनी थी। उन की हरियाली सूख चुकी थी पर चिकनाहट अभी भी वैसी की वैसी ही बनी हुई थी।

दिन ढलने लगा था, हम लोग अन्दर आ सोये ही थे कि किसी ने

आ कर जगा दिया; चाय पर बाहर जो जाना था। टांगे थक कर चूर चूर हो रही थीं। करवट बदलने मे जहाँ आलस आ रहा था, वहाँ अब तैय्यार हो कर बाजार तक नीचे उतरें ? मेरा तो हृदय विद्रोह कर उठा। अच्छी जबरदस्ती है, नही जायँ।

खैर ! जाना तो था ही, गये भी। चले ही थे कि धूप छुप गई और बूँदे पड़ने लगी। मेरा हृदय खीझ उठा। अच्छा ढग है। मिनट मे धूप निकलती है, मिनट में घन बरसने लगते है।

किन्तु थोड़ी ही देर मे मेरी खीझ चली गई। बदली का सिहरन भरा स्पर्श, मस्ती मे डोलते लम्बे नुकीले देवदारुओं का आपस मे आलिंगन करना सब अपना रग डाल रहे थे। कितने सुन्दर देश मे आ पड़ी हूँ, मैने कभी सोचा भी नही था ! मेरा हृदय मानों स्वर्ग की दूर-दूर बहती सरिता के सम्मुख खडा था। वह कह रही थी जितनी संभव हो पीलो !

उस रात 'कैम्पफायर' में देर हो गई। बाहर ठडी और तीखी हवा चल रही थी पिता जी को ठंड लग गई।

उस रात खाना खाने के बाद जब मै, पिता जी के कमरे मे पहुँची तो देखा, वे कुछ सुस्त थे। मेरे पूछने पर उन्हों ने कहा—मेरा हृदय कह रहा है मेरा बच्चा सुखी नही है। उसे मेरी जरूरत है।

कुछ ही देर में वे सो गये। मैं भी ऊपर की मजिल पर चढ़ गई। देखा, बहिन सो गई थीं। मैने गैस बुझा दिया। एक मोमबत्ती मेरे सिरहाने जल रही थी। खिडकी खुली थीं। चाँदनी छिटक रही थी। चन्द्रमा इतने पास-पास लगता था मानों देवदारुओं के जरा ही ऊपर

हो। कहीं दूर से आती हुई अलगोजा (दुहरी वशी) की ध्वनि गूँज रही थी।

किन्तु इतने सुन्दर वातावरण मे होते हुए भी, थके होने पर भी मुझे नींद नही आई। पिता जी के शब्द मेरे कानों में गूँज रहे थे। मेरा हृदय आशंकाओं से काँपने लगा। मैं ने देखा सिरहाने रक्खी हुई मोमबत्ती भी हवा के तीखे झोंकों को न सह सकने के कारण काँप रही थी।

पता नहीं कब किन विचारों में मै सोई। सुबह उठी तो देखा चलने की तैय्यारी हो रही थी।

(२)

प्रकृति मे फूलो को छोड, पानी से सुन्दर अन्य कोई वस्तु नही, और विशेषत. उन सरिताओं के पानी से, जो, समुद्र की भाँति गंभीर नही है, किन्तु जिन मे उमंग है, उल्लास है, आनद है, जीवन है, जिन की तरगे जी खोलकर हँसती है; जिन के गीतों मे असंख्य झरने अपने गीतों को लीन कर देते है, जो, पाषाण हृदय को भी पानी-पानी कर देती है।

अन्य सरिताएँ आती थो और अपनी बहार दिखा कर चली जाती थी, किन्तु, अलकनंदा श्रीनगर से बद्रीनाथ तक हमारे साथ रही। उस मे यौवन का उन्माद था। लहरें उठती थीं, चट्टानों से टकराती थीं तो उस के मुख पर श्वेत रेखाएँ खिंच जाती थीं मानों पिघली हुई हिम यहाँ भी अपनी माधुरी फैलाना चाहती है। उस का रूप क्षण-क्षण बदलता रहता। कभी फूलों को सींचती, चट्टानों से भिड़ती और कभी गुफाओं मे पल भर को विश्राम करती। कही दोनों ओर ऊँचे पहाड़ों से सुरक्षित,

सँकरी हो, गहरी घाटियों से होती चलती, कहीं चट्टानों से उठ कर अठ-खेलियाँ करती खिलखिलाती, कही जरा चौडी हो, कूलों पर के हरे-भरे खेतों को सीचती, उन के शत-शत चुम्बन लेती, तो, कही तट पर चरती गौओं को अपने शीतल स्पर्शों से पुलकित करती, कभी बादलों के घिरने पर लहरें बन उल्लास से नाचती, मानों सावन के मेघ ही घिर आए हों, लचीली नागिनी की भाँति लोच से उमडती घुमडती, घाटियों को अपने मधुर गीतों से गुँजाती, वह अपने प्रिय से मिलने आगे बढ़ती वह दूर क्षितिज मे खो जाती थी।

सब से पहले, पास से मैंने उस के दर्शन, रुद्र प्रयाग मे किए। न जाने क्यों पानी को देख, मेरा हृदय भी लहरें बन नाचने लगता है, पानी-पानी हो जाता है। हाँ ! प नी को देख, उस शीतल सुख कर स्वच्छन्द पानी को देख।

आह ! रुद्र प्रयाग में अलकनदा और मंदाकिनी का वह महामिलन जिन आँखों ने देख लिया है, जिस हृदय ने उस अनुपम सौन्दर्य के दर्शन कर लिए हैं वह क्या कभी उस को भूल सकता है ? डाक बँगले के एक कोने मे खडे-खडे मैंने उस संगम को देखा, उस अनुपम प्रवाह को देखा जो मैदानो की नदियों मे नहीं। वहाँ आधे घटे, घटे ही रुकना थापर फिर भी खाना-पीना सब कुछ छोड कर हम लोग मंदिर की सीढ़ियाँ उतर वहाँ तक पहुँचे। उफ ! सरिताओं मे इतनी उमंग, इतना प्रवाह,इतनी प्यास ! हाँ प्यास ! मेरी प्यासी आँखें भी देखती ही रह गईं, लहरों का पत्थरों पर ताली देते हुए वह ताडव नर्तन, जिस का स्वर दूर-दूर तक गूँज रहा था। मोतियों सी उछल-उछल कर असंख्य बूँदें

तन को, बस्त्रों को भिगो रही थी। भीषण गर्जन कर लहरे उठती, उन से उत्पन्न हुई सुफेद झाग टेढी मेढी रेखाओ मे खिच जाती, मानो वह पिघली हुई हिम, हिम से आच्छन्न शृंगों का चित्र यहाँ भी खीचना चाहती हो, पर वे क्षण भर मे आगे बढ़ जाती। मै उन्हे एक क्षण के लिए बाँध सकती, अपनी आँखों की प्यास बुझा सकती ! अपनी प्यासी आँखों को प्यासी ही वापिस ले जाने का मन न हुआ। काश ! मै भी उस जलती दोपहरी मे, सन्ध्या मे, ज्योत्स्ना में वहीं बैठी रह सकती और अपनी आँखों की प्यास को बुझा सकती।

मुझे याद आया डाक बँगले मे खड़े-खडे मैंने कहा था—'सगम तक चलेंगे'। इन्सपेक्टर साहब ने कहा—'चलिए आप को वहाँ तक ले चलूँ।' मैंने अपनी अविश्वासी आँखे उठा कर कहा था—'पुल तक नहीं, खास सगम तक'। उन्हों ने हँसते-हँसते कहा—'हाँ खास सगम तक ही, आप चलिए तो।' मेरे इस पगले कौतूहल का उपहास ! मैंने भी हँस दिया और पाँच दस मिनट मे हम लोग वहाँ तक पहुँच गये।

लौटते-लौटते मैंने अलकनदा ओर मदाकिनी दोनों को देखा, एक की गर्जना भयंकर थी, उस की लहरो मे भीषण हास था, पगली मादकता थी, दूसरी में उमंग थी, उल्लास था, पर, स्त्रियों-सी सुकुमारता थी, फूलों-सा सौन्दर्य था। वह प्रत्येक पत्थर से टकराती अपनी मधुर मुस्कान बिखेरती आगे बढ़ती जाती थी, पहली-सी पागल न हो उठती थी। निराली शोभा थी, न जाने कब के बिछुड़ों का मिलन था, नहीं नहीं पार्वती का शिव शंकर से मिलन। मंदाकिनी का जल श्यामल नीला था, अलकनंदा का धूमिल रेतीला था, जिस में पिघले हुए हिम का पुट था।

दोनों दो, दिशाओं से आती और मोतियों की माला बन हिमगिरि के गले मे भूलने लगती।

(३)

नद प्रयाग हम लोग साँझ को पहुँचे। मैने सध्या को जाते देखा, ज्योत्स्ना को बिखरते देखा, और उसी ज्योत्स्ना में स्नात, नीचे नदाकिनी के जल को देखा, लहरा का नर्तन रजनी के सूनेपन को भरने लगा। ज्योत्स्ना स्नात प्रकृति वे सुध हो गई, पगला गई, तारिकाएँ असख्य फूल बन उस की अलकों का शृंगार करने लगीं।

किन्तु। उफ! लहरों का वह, उमंग मे उठना, चन्द्रमा के मधुर चुम्बनों की आकाक्षा करना! यदि उस चाँदनी को किसी ने देखा होता, उस चन्द्रमा के कोमल मुखडे को देखा होता तो क्षण भर को उस की भी चन्द्रमा तक पहुँचने की लहरों की चाह की भाँति इच्छा होने लगती। काश! मुझ मे इतनी शक्ति हुई होती कि मै चन्द्रमा तक पहुँच सकती, उसे एक बार अपनी भुजाओं मे, अपने आलिगनों मे बाँध सकती; उस सुधा के स्रोत का पान कर लेती और अपने अधरों की प्यास बुझा लेती। दूर-दूर से देखने मे मेरी आँखों को तृप्ति कहाँ! उन्हें पास-पास से अनुभव करने में, हृदय से लगाने मे सुख मिलता है। हाँ, हृदय से लगाने म!

मुझे उस रात की सब चीजें भूल चली हैं। ज्योत्स्ना के विखरने पर जब आनद-विह्वला रजनी-रानी अपनी इष्ट-देवी के रीझने के उल्लास मे सुगंधित बन विखरने लगती है, कलिका से फूल बन खिलने लगती है, उस के मृदु चुम्बनों से भीगने लगती है और अपने मौन गीतों मे चन्द्रदेव

का अभिनदन करने लगती है तो मुझे उस रात की याद हो आती है, उन लहरों की याद आ जाती है।

उफ ! ससार मे कितना सौन्दय है ! कितना अनुपम सौन्दय है ! पर इन आँखों की प्यास आज तक न बुझी !

(४)

सौन्दय और वेदना का घना संबध है। जीवन मे सुख ही सुख, नही दुख भी है, फूल ही फूल नही काँटे भी हैं। श्यैले-कीटस् सुदरता और वेदना के गधर्व-किन्नर है, कीटस् जी जीवन-वेदना चन्द्रकुँवर के गीता से मुझे याद आ जाती है—

There is a wound with in me, its a wound,
That lies too deep for tears, and many a while
While all that s arou d me seems
With in my heart of hearts a knell doth sound.
I balanced all, brought all to mind,
The years come seemed waste of breath
A waste of breath the years b.h nd,
In balance with in this life, this death
The years b h nd seemed waste of breath
A waste of breath the years to come,
Why fret and swet and try to mend
For its al the same in the end !

हिम-शृंगो की ओर की उस यात्रा में पौड़ी के बाद, रुद्रप्रयाग, कर्ण-प्रयाग, नंदप्रयाग, चमोली, पीपल कोटी, और जोशी मठ्ठ, सब बारी-बारी से आये। किन्तु जोशी मठ्ठ से रग में भंग हो गया। हृदय

की सारी प्रसन्नता, सारा उल्लास, क्षण-भर मे विलीन हो गया।
चन्द्रकुँवर जी के 'छोटे-गीतों' की वेदना भाई की चिट्ठी बन कर मुझे जोशी मठ मे मिली थी।

गीतों की पत्र-वेदना मैं आज भी नही भूल पाई, जीवन भर वह मुझे चैन न लेने देगी। वे मर्मान्तक पंक्तियाँ आज भी हृदय मे गहरे तीरों की तरह चुभ कर, मुझे भेद जाती है।

हे मेरे दुखी भाई! अपने दुख मे मुझे दुखी देख तुम मेरे आँसुओं को भी देख लेते हो, किन्तु मुझे तो रोने का भी अधिकार नहीं। तुम्हारी उस असह्य वेदना को दो बूंद आँसू दे कर थोडा सा भी नहीं बँटा, सकती, तुम तक पहुँच कर, बहिन का प्यार देना तो दूर की बात है। किन्तु फिर भी तुम मेरे आँसुओं की सोच दुखी हो यह तुम्हारी ही विशालता है।

सब अपनो के स्नेह के बंधनों को तोड़ और उन पीड़ित प्राणों को भी त्याग, हम आगे जा रहे है, यह भी कैसी विवशता है! कसी दुनियादारी है! और कैसा त्याग है!!

मै पत्रोत्तर देने बैठती हूँ तो मेरी समझ में नहीं आता क्या लिखूँ, और जब मेरी आँखें डब डबा आती है, लोग उस समय मुझ से पूछते है क्या हुआ? तब झूठी मुस्कान दे कहना पड़ता है कुछ नहीं! हृदय, विद्रोह करने लगता है। उस स्थल तक भाग जाने की इच्छा होती है जहाँ न कोई शापित है, न कोई तापित; जहाँ जीवन अभिशाप हो कर नहीं आता है, जहाँ सुख है चिर शान्ति है—"कहाँ कहो किस निर्जन मे है मानस-शान्ति-निकेतन, जहाँ नहीं सुख-दुख का नर्तन, जन्म-

मरण और चिन्तन छीजन ?'

काश, मेरे पख हुए होते। स्नेह-बंधनो को तोड मुझे ये हिम-शृंग नही चाहिएँ। ये सरिताएँ, ये निरझर, ये देवदार, ये चीड़, ये कुंज, कुछ भी नही चाहिएँ। ये सब सुन्दर है, पर, हृदय का सुख-दुख इन, से भी सुन्दर है। इसी हिमगिरि की रानी को देख कर, एक दिन मेरा हृदय वही उसी के संग रह गया होता, वही मेरे लिये स्वर्ग बन गया होता, उन्ही निर्झरों के स्वर मे स्वर दे, मै गा उठती, उन हिम शृंगो पर पटती हुई सूर्य की पहली किरणें मेरे लिये पीयूष-धारा बहा देती, यदि मेरे हृदय की प्रसन्नता वैसी ही रह पाती। किन्तु आज हृदय मे उमगे ही नही रहीं, अतः वह सब फीका लगने लगा। मै सब भूल जाने का प्रयत्न करती किन्तु, दुर्घटनाएँ एक के बाद एक आती ही चली गई। किसी तरह बद्रीनाथ पहुँचे।

पुजारी जी कहते है कि यहाँ पहुँच कर ही, 'हृदय को शान्ति मिल जाती है, किन्तु कहा ? मेरे हृदय से पूछ कर देखें' उस मे कितनी असह्य वेदना, है मेरे अपने दुखी है तो मेरे हृदय को शान्ति कहाँ !

(५)

हे भाई ! तुम दुखी हो, और जीवन भर दुखी रहोगे। और हम लोग कुछ नही कर सकते ! यही शायद प्रकृति का नियम है। किसी की पीडित तानें दूसरे के कानो मे नही पडती और यदि पड़ती भी है तो उस टूटे हुए हृदय को जोड नही सकती।

सच है टूट गया जो उर, वह फिर न जुड़ेगा !
टूट गई जिस की पाँखें, वह फिर न उड़ेगा !

डूब गई जो तरणी, वह न चलेगी जल में !
उड़ी प्रभा जो वह न मिलेगी, फिर अंचल मे !
खोया यौवन फिर न जगत मे कहीं मिलेगा !
सच है टूट गया जिस का उर, वह न बचेगा !?

सच है मुझसे तो ये सरिताएं ही अच्छी है जो चट्टानों को काटती हँसती गाती आगे चली जाती है। ये निर्झर ही अच्छे है, जो कठोरता मे भी सरसता ले आते हैं। सूर्य के ताप पाते ही हिम भी मोम-सा पिघलने लगता है किन्तु मेरा हृदय पाषाण का पाषाण ही बना रह गया। किन्तु फिर भी यह हृदय अपने पन को भूल नही सकता। इसी अपनेपन को नादनी के स्वरों मे शान्ति प्राप्त होती है।

"शुभ हों पंथ, दूर हो जाए, सब बाधाएँ !
अशुभ शब्द कानों मे नही कहीं से आएँ !
स्वागत करे अर्घ्य ले कर सब जग मे तेरा !
तू आए बन कर जगती मे स्वर्ण-सबेरा !
तू सब को भाए, जग में सब तुझ को भाएँ !
शुभ हों पंथ, दूर हो जाएँ सब बाधाएँ !



यौवन के आँसू

डा० विनी एम० एच० एच०

कवि ने स्वयं ही कहा 'कवि वही जिन के स्वरों मे भरी रहती है हृदय की हार उर वेदना !'

कविता का अनन्त स्रोत अपनी मार्मिकतम स्थिति मे तभी पहुँचता है जब वह वेदना के आँसुओ से घुलने लगता है। किसी दुखी हृदय की आर्त पुकार किसी भी सहृदय के हृदय मे हाहाकार उत्पन्न कर देती है। इस वेदना का वर्णन कविता मे अनतकाल से होता आया है और अब भी हो रहा है, किन्तु प्रत्येक सच्चे कवि की रचना अपनी निजी मौलिकता लिए रहती है, इसीलिए साहित्य मे वेदना चिर पुरातन होते हुए भी चिर नवीन है।

कवि चन्द्रकुँवर ने अन्य कवियों की अमर ध्वनियों को सुना है। उन के चरण-तल पर बैठ, अपने दीर्घ दुख की न जाने कितनी रजनियाँ बिताई हैं ! किन्तु फिर भी उस की अजर अमर वेदना को कोई गा नहीं सका, कवि अनुभव करता है—'कुंज से मै कुंज मे हूँ फिर चुका, मैं सभी के करुण स्वर हूँ सुन चुका, हाय ! मेरी वेदना को पर न कोई गा सका !'

चन्द्रकुँवर की छोटी कविताओं मे संभवतः यह सब से सुंदर बन पड़ी है। उसे विश्वास होने लगता है कि उस की वेदना अनंत है, अजर अमर

है। उस की कविता के अक्षर उस के आँसू जल से धुल-धुल कर आते है—'मेरे आँसू जल से धुल-धुल कर आते हैं कविता के अक्षर, मै मर जाऊँगा बंधु, पर मेरा विषाद है अजर अमर!'

अपने हृदय की वेदना को जिस ने सुना है वह दूसरों की व्यथा को भी समझने लगता है—'विश्व के ईश्वर वही है जो सभी की वेदना में हृदय से है रुदन करते।' दुख की अनुभूति ही विश्व सहानुभूति की ओर ले जाती है, जो अपने सुखों मे ही डूबे रहेंगे वे दूसरों की व्यथा को भला क्या समझेंगे! प्रसाद के शब्दों में—

सोये है जो अपने सुख में, जिन की हैं सुप्त व्यथाएँ,
अवकास कहाँ है किस को, सुनने को मौन कथाएँ,

चन्द्रकुँवर की कविताएँ अपने जीवन की आलोचनाएँ होने के कारण, स्वय उन के काव्य की आलोचनाएँ बन जाती हैं। इसीलिए कवि जब कहता है, "कवि वही है जिन के स्वरों में भरी रहती है हृदय की हार उर की वेदना,' तब यह उक्ति स्वयं चन्द्रकुँवर पर कितनी लागू होती है यह स्पष्ट ही है। एक पंक्ति में ही वह अपने सारे जीवन की कहानी कह जाता है—'आह! मेरा वेदना से बना जीवन!'

जीवन का प्रभात, पल भर को आ कर ही चला गया, और वह दिन भी आ जाता है जब—

कुम्हला जाती हँसी हृदय से अधरों तक आते ही,
रो उठती है आँखें अधरों पर स्मित के छाते ही,
हो जाता वरदान और ही कुछ मिलने मिलने तक,
पात्र सुधा का, विष बन जाता, हाथो के पाते ही!

एक समय था, कवि का भोला-भालाहृदय जब गा सकता था—

[1]ओ प्रभात! मेरे प्रभात! सुन्दर! आओ धीरे, धीरे!
ओ पुलकित पवनो की चंचल स्वर्ण पुरी के हीरे!
निर्मल जल पर पड़ती लख कर अरुण किरण की छाया,
इस निरभ्र नभ-सा मुझ को भी हँसना ही है आया।

अन्तिम पक्ति मे देखिए कितने सरल, प्रसन्न, बाल हृदय के दर्शन होते हैं। कवि के जीवन मे आनद था, हृदय मे बचपन का भोलापन था। एक समय था जब वह यौवन के द्वारों पर खडा था और उस के पास न जाने कितना धन देने को था। तब उस मे नव यौवन था, उस का मन निर्मल था और लोचन स्नेह से भरे हुए थे—

[2]"मेरे पास आज इतना धन है देने को,
नये फूल है पांवो के नीचे बिछने को,
नये मेघ है, नई चाँदनी, है नव यौवन,
निर्मल मन है, और स्नेह से छल-छल लोचन!
कौन जानता है, कल ही क्या है होने को!
मेरे पास आज इतना धन है देने को!

तब तन्मय हुए उस के हृदय से गीतों की धार बहने लगती थी और उसी तन्मयता मे आत्म-विभोर हो वह गा उठता था—

[2]कहाँ मिलेगी मर कर इतनी सुन्दर काया!
जिस पर विधि ने है जग का सौन्दर्य लुटाया,
हरे खेत ये बहती बिजन बनो की नदियाँ,

१— हिमवन्त का एक कवि। २—नंदिनी।

पुष्पों मे फिरती भिखारिणी ये मधुकरियाँ,
कहाँ मिलेगी मर कर इतनी शीतल छाया ?
कहाँ मिलेगी मर कर इतनी सुन्दर काया ?

किन्तु वह बचपन भी चला गया, योवन की मादकता भी जगने-सी लगी उस का जीवन आशा की डोरी मे झूलता तो है किन्तु "काँटों मे यह पीड़ित यौवन फूल रहा है," और धीरे धीरे उसे लगने लगता है "इस जीवन मे कभी न सुख की छाया आई" और एक दिन वह भी आ जाता है अधरों पर आते ही हसी कुम्हला जाती है, वेदना से उस का अन्तर भर उठता है और उस का जीवन ही वेदनामय बन जाता है। वेदना के स्वरों से वह परिचित हो जाता है—

हो गये अब प्राण परिचित वेदने तुम से,
अब तुम्हारे ही नयन जल से जलज विकसे,

उस के जीवन में निराशा छाने लगती है-"आएगा बसन्त पर मै न हरा अब हूँगा," जीवन से निराश हो वह थक जाता है। वह, रोना चाहता है सब दिन के बदले, जी भर कर रोना चाहता है- "आज चाहता जी सब दिन के बदले रोना", इस एक पंक्ति में ही पर्याप्त व्यथा है। रोते, रोते ही वह समझने लगता है—'

सच है टूट गया जो उर वह फिर न जुड़ेगा,

उस के जीवन में मृत्यमुखी निराशा छाने लगता है जीवन के एकाकीपन का अनुभव वह करने लगती है किन्तु दुख यही होता है कि

जिस के चरणों पर अपना सब कुछ अर्पित कर अपनी सुध-बुध खो पृथ्वी पर दौड़ता रहा, वह निरी छलना ही निकली। आह उस का सारा चलना व्यर्थ हो गया। उस ने इतना परिश्रम किया, किन्तु अन्त मे कुछ भी न पाया—

जिस की आँखो का दास बना, जिस के चरणों पर उर अपना
अर्पित कर, सुध-बुध खो कर, मैं रहा दौड़ता पृथ्वी पर,
वह निकली हाय! निरी छलना!
मेरा सब चलना व्यर्थ हुआ, कुछ करने मे न समर्थ हुआ,
मेरा जीवन साँसे खो कर, पड़ गया आज निर्जन पथ पर
उस श्रम का ऐसा अर्थ हुआ!

जिस पर विश्वास किया था जब, वह ही छलना निकली तब, जीवन मे रह ही क्या गया! जब तक वह थी उस के हृदय मे आशा थी, उस ने जीवन की सब चोटों को सह लिया था किन्तु आज जब वह ही छल गई तो कुछ भी न रहा—

क्या सहा, और क्या नही सहा, क्या कहा विश्व ने' क्या न कहा!
जब तक तुम थे उर के भीतर, आशा थी, सुख था पृथ्वी पर,
अब तुम न रहे कुछ भी न रहा!

उस के प्राणों मे बल नही रह जाता। समस्त दृष्टि सूनी हो जाती है। उसके सूने प्राण कुछ अवलम्ब चाहते हैं, कुछ आश्वासन चाहते है, जिस से जीवन मे आशा का सचार तो हो, किन्तु जग मे कोई ऐसा नहीं जो उस के अन्तर की व्यथा को समझ सके। यही तो जीवन का रोना है।

जीवन को कुछ आश्वासन दो, प्राणों को कुछ अवलम्बन दो,
ओ विहग, आज ऐसे स्वर मे गाओ जिस से इस अन्तर मे-
अभिनव आशा का वर्षण हो !
जग में अब लौट कहाँ जाऊँ, किस के आगे यह दुख गाऊँ ?
सुन कर के मेरी करुण कथा, इस उर से जिस को हो ममता,
मै ऐसे प्राण कहाँ पाऊँ !

वेदना की ज्वाला प्रबल हो सुलगने लगती है । कवि का शान्त हृदय एकाएक, व्यथा से जल उठता है हृदय मे हा हा कार मचने लगता है। जो व्यथा अन्य कविताओ मे शान्त रूप ही धारण किए रहती है वह 'छोटे गीतों मे' उमडने लगती है किन्तु फिर भी अभिव्यक्ति कितनी करुण हो जाती है—

सुन कर के मेरी करुण कथा, जिस को इस उर से ममता,
ऐसे प्राण कहाँ पाऊँ !

उस के हृदय की शान्ति कहाँ खो गई ? वह उस शान्ति-तीर को खोजने लगता है। जीवन के अधकार को किसी तरह फाड फेक देना चाहता है, उस ने तो जीवन मे रोना नहीं चाहा था, उसे भी तो इच्छाएँ थी आगे बढने की, किन्तु उस के अभागे भाग्य मे यह कहाँ लिखा था।

जीवन में इतना अंधकार ! उफ ! प्राणों पर यह असह भार,
चिर तिमिर पाश मे बँधी हुई, आँसू बरसाती खोज रही
ये आँखे नभ में ज्योति-द्वार !

उस के जीवन की कहानी आशा और सुख से प्रारभ हुई थी और अब निराशा और आहों मे समाप्त हो रही है—

वह कथा उठी थी आशा में, सुख की उत्साहित भाषा में,
क्षण भर तो जग मे व्याप्त हुई, पर देखो आज समाप्त हुई
आहों और निराशा में !

वह अपने दुखों के तम को, अंधकार को दूर करने का साधन ढूँढता है। वह भी तो प्रकाश को पाने का इच्छुक है--

मेरी हारे स्वीकार करो, मुझ को इस तम से पार करो,
मेरी बाँहो मे बाँहे धर, उज्ज्वल प्रकाश के शिखिरो पर'
मेरे साथ-साथ विचरो !
सिखलाओ जीना विष पीकर, सिखलाओ हँसना पृथ्वी पर,
उर मे वह साहस पारस दो, मन के विकृत कालायस को
कर देता जो सुवर्ण सुन्दर !

नदिनी मे जीवन से संधि कर विश्व-शान्ति की कामना है, छोटे गीतों मे भी वे स्वर विद्यमान है 'पूर्व से फूटता है प्रभात, पृथ्वी से जा रही है रात !' गीत-माधवी मे सौन्दय देवि के बन मे उस के जीवन के सुख-दुख कुसुम परिमल की भाँति मिल गये है। जो सुख खो गया वह फिर कर नही आता, जो उर टूट गया वह फिर कर नही आता, जो उर टूट गया वह फिर नही जुडता, किन्तु ऐसे ही हृदयों से निकले वेदना स्वर गधर्व-गान के यौवन के आसूँ बन पाते हैं।



जीवन-झरमर

शीला कुसुमिता

हिमवन्त की असीम सुन्दरता को जी भर कर प्यार करने वाले किन्नर चन्द्रकुँवर के गीत, हिमालय की कन्दराओं मे ही गूँजते रहे किन्तु उन की रस-पयस्विनी भागीरथी-मंदाकिनी की भाँति संतत पृथ्वी पर भी शीतल शान्ति बनी बह रही है।

जीवन के आँधी तूफानों को झेलते, निरंतर आगे बढते रहने की सामर्थ्य उस की महान आत्मा में थी, किन्तु शरीर तो अधिक दिन तक टिका नही रह सकता, एक दिन सभी को इसे छोड कर जाना ही होता है। चन्द्र कुँवर अपने साहित्य को, अपने अमर रूप को छोड़ कर गये हैं।

हिमवन्त के इस गधर्व गायक के जीवन-काव्य के अन्तिम दर्शन 'निवेदन' की अन्तिम पंक्तियों मे कर चुकने पर भारत माँ के इस लाल के प्रति अंजलियाँ ही अर्पित की जा सकती हैं।

विदा-विदा हे हरित-तृणों की सुन्दर धरणी!
विदा-विदा हे मानव-पशु की पूजित जननी!
विदा हृदय के सुख! चिर-विदा प्राण-प्रिय यौवन!
हे आकाश, विदा दो मुझ को आज रुदन कर,
जाता हूँ मैं उस प्रदेश को जहाँ हृदय पर
कभी न पड़ती सूर्य चन्द्र की किरणें सुन्दर,

और हाय, इस पृथ्वी के फूलों को चुन कर
अब न तुम्हे पूजूँगा मै इस नभ के नीचे,
तुम भी मुझे विदा दो, हे प्रभु ! हे परमेश्वर ! !"

सब से विदा ले वह स्वर्ण हंस, मंदाकिनी की लहरों मे लीन हो गया।

२

हिमालय का वह किन्नर, वहीं की कंदराओं में चिर निद्रित है। भारत माँ के नभ मंडल में विचरण कर निरंतर काव्य-सुधा की वर्षा से उसे शीतल करनेवाली रवि-रश्मि हिमालय की गोद मे अस्त हो रही है।

ओ हिमालय की वनस्थलि ! तुम्हारा वनमाली जा रहा है आज अपनी नव पल्लवित सेज उस के लिए बिछा दो ! ओ तरुओ ! तुम अपने पल्लव और फूलो को मंद-मंद पवन के सहारे धीरे-धीरे नीचे गिरा दो और उस की सेज सजा दो। ओ डाल-डाल के फूलो ! ओ रैमासी, ओ मृदुल चम्पक कलियों, तुम सब अपनी पखुड़ियो से उसे ढक दो। हे गुलाब ! हे चमेली, हे जुही, तुम सब अपने परिमल से परिस्नात कर उस की सुरभि धरणी के कोने मे फैला दो। आओ नील नभ की ज्योत्स्ने ! आज तुम भी उतर कर एक बार चाँदनी उस पर छिटका दो।

ओ आकाश ! लोक के ग्रह-नक्षत्रो ! चंद्र-तारो ! मेघ-बिजलियों, ऊषाओ, सन्ध्याओ, एक बार तुम स्वर्ग का सौंदर्य ला कर पृथ्वी पर उतर, अपनी अंतिम अंजलि उसे समर्पित कर दो। वह जा रहा है दूर, बहुत दूर !

ओ नीले देवदार के बन ! ओ हिमगिरि की माधुरी ! ओ हिम शृंगावलियो ! आज अन्तिम बार उस के अधरों को चूम लो ! तुम सब उसे कितने प्रिय थे ! आज वह जा रहा है, तुम बूँद-बूँद बन कर आओ और समस्त धरणी पर अपनी सीकरों को चमका दो । यही उस के प्रति तुम्हारी अन्तिम अश्रु अंजलि-होगी ।

हे मस्त पवन, जहाँ भी उस की समाधि हो, वहाँ धीरे धीरे बहते रहना ! उस गुंजन-प्रवाह को शाश्वत शांति देते रहना !

हे काफल पाक्कू ! हे कोयल ! हे चातकी ! तुम आज उस के विरह गीत गा - गा कर सुनाओ । हे मानसरोवर के राजहंस ,हे कुररी, हे कफ्फू ,हे मयूर , हे चकोर ! तुम सब मिल कर इस मौन प्रणयी की उस अमर गाथा को दिशा-दिशा मे, कोने-कोने मे फैला दो और उस की प्रियतमा तक कोई संदेश ले जाओ कि आज तुम्हारे प्रणयी ने सदैव के लिए आँखे मूँद ली है । आज उस का जीवन-सुमन मुरझा गया है, अब भी शायद वह तड़फ उठेगा जब वह एक दिन तुम्हारे नूपुरों की ध्वनि सुनेगा और तुम रुम-झुम करती हुई वहाँ से निकल जाओगी ?



कविता-निर्देशिका

(अ)